TIGHT BINDING BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180804

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—552—7-7-66—10,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83/K 18 P Accession No. H 2777

Author कान्त, कुशवाहा

Title पपिहरा

This book should be returned on or before the date last marked below.

घायल

'आवारा'

●

कान्त-शैली के लोकप्रिय उपन्यासकार श्री प्यारेलाल 'आवारा' का सरस-सामाजिक उपन्यास।

यौवन और समाज पर रस और व्यंग की तीखी बौछार करती हुई 'घायल' की कथा आपके तन-मन में जहाँ एक मीठी सिहरन भर देगी, वही इस सड़े-गले थोथे समाज का चित्र आपको कुछ सोचने, विचार करने को विवश कर देगा।

'घायल' अगर आपने अब तक न पढ़ा हो तो आज ही मँगा लें।

सजिल्द, नयनाभिराम आवरण मूल्य ४)

रोटी और रोमांस

प्रताप

●

जीवन में रोटी और रोमांस का क्या महत्व है!—इस अत्यन्त अहम समस्या पर लेखक के मननीय-क्रान्तिकारी विचारों में गुंफित 'रोटी और रोमांस' हिन्दी कथा-साहित्य को सम्भवतः एक नयी दिशा प्रदान करेगा।

आज के इस एटमी-युग को सरस-कथा में ढालकर लेखक ने निस्संदेह एक अभिनव कथा कृति प्रस्तुत की है।

अपनी प्रति आज ही मँगालें। सजिल्द नयनाभिराम आवरण मूल्य ३॥)

इस्पात

प्रताप

●

'रोटी और रोमांस' के लेखक का दूसरा विचार-प्रधान उपन्यास।
आज का युग वादों की झंझा में किस तरह विषमता का रंगस्थल बना हुआ है!—इसे लेखक की समर्थ प्रतिभा ने बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है। इस झंझा-झकोर में इस्पाती-व्यक्तित्व ही सही मार्ग पा सकता है।

आज ही मँगा लें। सजिल्द कलात्मक आवरण मूल्य २॥)

आपरेशन

शरत्

●

महान् उपन्यासकार की वह वाणी जो मित्र-मंडली में कही गयी और कहानी बन कर गूँज उठी। सजिल्द मूल्य ३)

दो बहनें

रवीन्द्र

●

विश्वकवि का सुन्दर उपन्यास। सजिल्द, तिरंगा आवरण १॥)

प्राप्ति स्थान—

चिनगारी-प्रकाशन

पो० बॉ० ७८, बनारस

तुरन को

चम्पे की हरी-हरी डाल, मदहोशी से झूमते हुए गुलाब के पौधे सुगन्धि का हाथ पकड़ कर उड़ती हुई ठंढी हवा के मस्त झकोरे, पश्चिमीय आकाश पर धीरे-धीरे डूबता हुआ सूरज, तालाब की चञ्चल छाती पर नाचती हुई कुछ स्वर्णिम किरणें और सीढ़ी पर बैठा हुआ पुस्तक पढ़ने में तल्लीन दीपक !

दीपक—पचीस वर्ष का शहरी युवक !

आज गाँव में आकर, यहाँ की स्वच्छ वायु एवं सुन्दर दृश्यावलि देख वह विस्मृत-सा हो उठा है। शहर में यह सब कहाँ ? चहकती हुई बुलबुल, कूकती हुई कोयल, उड़ती हुई तितलियाँ, गुनगुनाते हुए भौंरे—कितना आनन्द है यहाँ ? जी चाहता है उसका कि इसी तालाब के किनारे सीढ़ियों पर बैठा हुआ वह दिन-रात पुस्तकें पढ़ा करे।

वह इस गाँव के जमीन्दार के बेटे का मित्र है। दोनों कई साल तक शहर में साथ-साथ पढ़े हैं। कल ही तो वह आया है यहाँ, और इतनी ही देर में यहाँ का कोना-कोना जैसे उसकी आँखों में समा गया है।

यह बगीचा, यह तालाब, ये पेड़, यह जमीन, सब उसके मित्र की ही सम्पत्ति हैं। दीपक गम्भीर है और एकान्त प्रेमी भी—सो यहाँ का माधुर्य देखकर वह विमुग्ध हो उठा है।

अचानक कोयल की कूक सुनकर दीपक चौंका। ध्यान लगा-

कर सुना उसने। नहीं, कोयल की कूक नहीं है यह—किसी कोकिल-कंठी का स्वर है, जो दक्षिण ओर की अमराई से आ रहा है।

दीपक ने पुस्तक में मन लगाना चाहा, परन्तु स्वर इतना मधुर तथा मादक था कि कान केवल उसे ही सुनना चाहते थे और आँखें गानेवाली की सूरत देखने के लिये बेताब हो-हो उठती थीं।

नैना ये मतवाले री गुइयाँ ये नैना मतवाले।
कसक रही है चढ़ी जवानी, करेजवा में पीर उछाले
री गुइयाँ, ये नैना मतवाले।

दीपक का दिल धड़कने लगा। यद्यपि गाना देहाती था, फिर भी गायिका का स्वर उसमें जान फूँके दे रहा था। दीपक ने वैसा सुरीली आवाज नहीं सुनी थी—सिनेमा, थियेटर या रेडियो—कहीं भी नहीं।

दीपक ने दोनों नेत्र बन्द कर लिये, ताकि चित्त एकाग्र हो जाय और कान उस कोकिल-स्वर का पूरा आनन्द ले सकें। वह सुनता रहा, सुनता रहा—बड़ी देर तक, भूला-भूला-सा।

एकाएक वह चीख उठा। हाथ से मस्तक पकड़ लिया उसने। लगा, जैसे कोई गोली उसके माथे में आ लगी हो। पीड़ा असह्य हो उठी। हथेली हटाकर देखा तो जरा-सा खून! मगर गोली लगने से तो जरा-सा खून नहीं निकलता, बल्कि धार-सी वह चलती है रक्त की—फिर....

उसने आँखें खोल दीं। पास ही, साफ सीढ़ी पर पत्थर का एक गोल टुकड़ा पड़ा था। तो यह पत्थर किसने उसके मस्तक में खींच मारा? कुछ समझ न सका वह। इधर-उधर देखा, कोई नहीं था। कुछ दूर से उसी मादक स्वर की ध्वनि आ रही थी।

वह उठा। चल पड़ा अमराई की ओर। पहुँचकर देखा—हसीन चाँद पन्द्रह साल की जवानी लिये खिला था वहाँ। हाथ में

गुलेल था। दीपक ने शहर के बीच वैसी सुन्दरता नहीं देखी थी। उस लड़की के रग-रग में उन्मत्त चञ्चलता भरी हुई थी। वह आम के एक पेड़ के नीचे खड़ी होकर गा रही थी और गुलेल से पत्थर के टुकड़े चलाकर आम तोड़ रही थी।

बदन पर मैली-सी सलवार और कुछ फटी-सी कुर्ती थी। सर पर की ओढ़नी उसने जमीन पर रख दी थी, जिसमें दस-बीस आम के टिकोरे दिखाई पड़ रहे थे ? कुर्ती के ऊपर से कुछ-कुछ उभरे हुए वक्ष जैसे अगम कलाकार की कला की दाद दे रहे थे।

दीपक कुछ देर तक एकटक उसे देखता रहा। लड़की का ध्यान उसकी ओर नहीं था। वह तन्मय होकर गा रही थी।

धीरे-धीरे दीपक उसके सामने आ खड़ा हुआ। लड़की ने उसकी ओर आश्चर्य से देखा। गाना बन्द कर दिया उसने।

सीधी-सादी आवाज में उसने पूछा—"मेरा गाना सुनने आये हो क्या ?"

"नहीं"—दीपक ने थोड़े में कहा।

"क्यों ?"—लड़की उससे इस तरह पर बोली, जैसे उसका उससे बहुत दिनों का परिचय हो—"मेरा गाना तुम्हें पसन्द नहीं आया क्या ? रसूल भैया कहते हैं कि गाती नहीं, कूकती है, तेरी आवाज बड़ी हसीन है—क्यों ? कैसी है मेरी आवाज ?..."

"बड़ी मधुर !..."

"तुम्हें अच्छी लगी...."

"हाँ !...."

"कोई दूसरा गाना सुनाऊँ तुम्हें ?...."

"नहीं !..." गम्भीर स्वर में कहा दीपक ने।

"क्यों ?..." लड़की ने पूछा।

"मैं गाना सुनने नहीं आया...."

"तो ?...."

"यह देखो !..." दीपक ने अपने मस्तक का छोटा-सा घाव उसे दिखाया।

देखकर उसका मुँह उतर गया, जैसे चमकते चाँद पर बादल का एक टुकड़ा आ पड़ा हो।

धीरे से बोली वह—"ओह! मेरी गुलेल तुम्हें जा लगी! सच जानो! मैंने जान बूझ कर नहीं चलाई थी....मैं तो आम तोड़ रही थी यहाँ...."

"मगर जरा इधर-उधर देखकर गुलेल चलाया करो—" बोला दीपक—"नहीं तो एक दिन किसी की जान ही ले लोगी तुम...."

"खुदा कसम! किसी की जान लेकर क्या करूँगी मैं?"—अजीब अदा से मुस्करा कर बोली वह—"एक अपनी ही जान मेरे लिये वजनी हो रही है...."

लड़की की आँखें दीपक की आँखों से मिलीं तो उसका कलेजा सनसना उठा। दीपक उसकी ओर एकटक देख रहा था। उन आँखों का तीर सीधे उसके कलेजे तक पैठ गया। उसने नजरें नीची कर लीं। मुख पर लालिमा छा गई।

"यह लो अपनी कंकड़ी!"—दीपक ने पत्थर की कंकड़ी उसकी ओर बढ़ायी।

लड़की ने हथेली फैला दी। दीपक उस पर कंकड़ी रखकर उल्टे पाँव लौट पड़ा तालाब की ओर, जहाँ पर उसकी पुस्तक अकेली पड़ी हुई थी।

उसके चले जाने पर लड़की ने कंकड़ी की ओर देखा। खून के धब्बे पड़े हुए थे उस पर। जाने क्यों हाहाकार कर उठा उसका हृदय। वह कंकड़ी उसकी हथेली पर नागिन की तरह रेंगने लगी। डर कर उसने उसे दूर फेंक दिया।

तालाब के किनारे आकर दीपक ने अपने मस्तक का रक्त धोया,

फिर सीढ़ी पर बैठकर पुस्तक पढ़ने लगा। वह उस अल्हड़ लड़की के विषय में अधिक सोचना नहीं चाहता था।

अंग्रेजी का कोई उपन्यास था वह, जिसे दीपक पढ़ रहा था। कथानक की रोचकता में वह शीघ्र ही बहने लगा।

चौंका वह तब, जब उसके कन्धे पर किसी की मुलायम हथेली का भार पड़ा। सर घुमाकर देखा उसने।

वही!

वही लड़की थी, चुपचाप उसके सामने खड़ी थी वह।

"क्या है?"—दीपक ने पूछा।

"यह लो!..." लड़की ने पत्थर का एक बड़ा-सा टुकड़ा दीपक के आगे रख दिया!

"इसे क्या करूँगा मैं?...."

"इसे लेकर तुम भी मेरे माथे पर मार लो"—उसने कहा—"तुम्हारा बदला पूरा हो जाय....तुम रूठ गये हो न?..."

"नहीं तो! मैं रूठा नहीं हूँ"—बोला दीपक।

"तब वहाँ से तुनककर क्यों चले आये?"—

"वहाँ रुककर ही क्या करता?"

"तो तुम वहाँ गये ही क्यों थे?"—पूछा उसने।

"तुम्हारी कंकड़ी लौटाने...." दीपक ने कहा।

"यह क्यों नहीं कहते कि ताना मारने गये थे"—बोली वह—"ज़रा सी चोट क्या लगी, रूठना-सिसकना शुरू कर दिया...अच्छे मर्द हो जी तुम...."

"...." कुछ बोला नहीं दीपक। चुपचाप पुस्तक उठा कर पुनः पढ़ने लगा।

वह बिना किसी हिचक के दीपक के पास बैठ गई। बोली—"खुदा जानता है, मैंने जान बूझ कर तुम्हें नहीं सताया....मुझे माफ

कर दो....अगर तुम रूठे ही रहे तो मैं अपने हाथों से अपना सर तोड़ लूँगी...बोलो, माफ किया तुमने ?"

"हाँ...."

"तुम तो बहुत कम बोलते हो जी ! हर बात का जरा-सा जवाब देकर चुप रह जाते हो....लो मैं अपनी गुलेल तोड़ डालती हूँ, ताकि फिर किसी का सर न फूटे....अब तो खुश होगे तुम ?...."

उसने गुलेल दोनों हाथों से पकड़ कर तोड़ना चाहा। दीपक ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया। उस स्पर्श से उसके कलेजे की एक-एक धड़कन झनझना उठी। वह मादक नेत्रों से देखती ही रह गई दीपक की ओर।

"इसे क्यों तोड़ती हो ?"—दीपक ने पूछा।

"तुम रूठ जो गये हो...." वह बोली।

"मैं रूठा नहीं हूँ...."

"अच्छा जी !..." जरा-सा हँसकर उसने कहा—"फिर इतना बन-ठन क्यों रहे थे ?...आम खाओगे, दूँ ?...."

"नहीं ! मैं कच्चा आम नहीं खा सकता...." बोला दीपक।

"क्यों ?"

"मेरे दाँत खट्टे हो जाते हैं...."

"वाह ! जब खुद तुम्हारे दाँत खट्टे हो जाते हैं तो दूसरों के दाँत क्या खट्टे करोगे तुम ?....यह कौन-सी किताब है ? गाने की है क्या ?..."

"नहीं, कहानी की !"

"मुझे भी कहानी सुनाओ...." सरल भाव से उसने कहा।

उस लड़की की सरलता से दीपक प्रभावित होता जा रहा था। देखने में वह किसी मुसलमान की लड़की जान पड़ती थी।

"तुम कहानी नहीं सुनाओगे मुझे ?...." दीपक को चुप देख कर उसने कहा—"अच्छा, मत सुनाओ...तुम्हारी किताब से तो

अच्छी कहानियाँ बसीदा दादी सुनाती हैं...हाँ, यह तो बताओ कि तुम हो कौन....आज पहले ही पहल दिखाई पड़ रहे हो यहाँ..."

"हाँ, मैं शहर से आया हूँ...." दीपक बोला।

"शहर से ?....कितना बड़ा शहर है ? इस गाँव से बड़ा होगा ?"

"बहुत बड़ा !....मगर तुम्हारे गाँव से जैसा सुन्दर नहीं है...."

"किसके यहाँ ठहरे हो ?"

"जमीन्दार के यहाँ, उनका बेटा मेरा दोस्त है..."

"अच्छा ! कैलास भैया के तुम दोस्त हो ? मैं तो जानती ही न थी"—बोली वह—"तो तुम यहीं गाँव में आकर क्यों नहीं रहते ? शहर में क्या रखा है ? यहाँ देखो, गन्ने हैं, आम हैं, अमरूद हैं—जितना चाहो खा सकते हो। शहर में इनके दाम देने पड़ते हैं न !....तुम यहाँ रहने लगो तो मुझे रोज कहानी भी सुनाया करो...."

"मैं अभी दो हफ्ते तक यहाँ रहूँगा"—दीपक ने कहा—"तुम कल से यहीं आ जाया करना। मैं तुम्हें कहानी पढ़कर सुनाऊँगा...."

"खुदा कसम ! तुम बड़े अच्छे हो....हाँ, तुम्हारा नाम क्या है ?"

"दीपक !"

"दीपक-सीपक कैसा नाम है जी ? मेरा नाम देखो कितना अच्छा है !"

"क्या नाम है तुम्हारा ?...."

"पपिहरा !" उसने कहा।

"बड़ा अच्छा नाम है....तुम्हारी आवाज भी तो बड़ी मीठी है...."

"तुम्हें तैरना आता है ?"

"हाँ !" दीपक ने कहा।

"तो आओ तैरें..." वह बोली।

"कोई देख लेगा तो क्या कहेगा ?"—

"कहेगा क्या ?"—पपिहरा बोली—"जानते हो, रसूल भैया गुण्डे हैं। पहाड़ जैसी देह है उनकी। सारा गाँव उनसे काँपता है। जमीन्दार उन्हें बहुत मानते हैं....किसी ने उँगली उठाई तो वे उसकी आँख फोड़ देंगे....समझे कि नहीं....उठो! आओ थोड़ी देर तक तैर लें...."

"दीपक!...ओ दीपक!" किसी ने अमराई में से पुकारा।

दीपक उठता हुआ बोला बोला—"कैलाश मुझे बुला रहा है...."

पपिहरा ने उसका हाथ पकड़ लिया। कहा उसने—"तुम यहीं बैठो। कैलास भैया को आना होगा तो यहीं आ जायेंगे..."

"दीपक!..." फिर पुकारा कैलाश ने।

"मैं यहाँ हूँ भाई!"—वहीं से दीपक ने चिल्लाकर कहा।

"यहाँ आओ—एक चीज दिखलाऊँ तुम्हें..."

"तुम्हीं यहाँ चले आओ—"

"आते क्यों नहीं ? क्या किसी ने बाँध रखा है ?..."

"हाँ!...जल्दी आओ—मुझे छुड़ाओ..." बोला दीपक।

थोड़ी ही देर में एक समवयस्क युवक वहाँ आ गया। वही था कैलाश, दीपक का मित्र, जमींदार का पुत्र।

"इस शैतान से कब परिचय हुआ तुम्हारा ?..." कैलाश ने पपिहरा की ओर देखते हुए दीपक से पूछा।

"तुम्हारा गाँव ही ऐसा है भाई कि जाने कितने शैतानों से परिचय होगा अभी..." हँसकर बोला दीपक।

पपिहरा ने बगीचे से तोड़े हुए आम अपनी ओढ़नी में बाँध रखे थे। कैलाश को देखकर उसे छिपाने का प्रयत्न करने लगी।

"वह क्या है रे ?..." कैलाश ने पूछा।

"मैंने तुम्हारे बगीचे से आम नहीं तोड़ा है कैलास भैया!. यह तो इन्होंने तोड़ कर दिया है—" पपिहरा बोली।

उसके भोलेपन पर दोनों मित्र हँस पड़े।

"इसका गाना सुना तुमने ?"—कैलाश ने दीपक से पूछा।

तो पपिहरा ही बोल उठी—"हाँ, भैया ! नैना मतवाले वाला गाना इन्होंने सुना है...."

"चल हट !" कैलाश बनावटी रोष से बोला—"बड़ी गाने-वाली आई है... भोंपे की तरह तो आवाज है तेरी..."

"भला रहने दो जी....तुम्हारी ही आवाज बड़ी मीठी है.... खुदा कसम ! जैसे फटा बाँस..."

"छोड़ दे दीपक को, उसे पकड़े क्यों है ?"

"ये चले जायँगे तो कहानी कौन सुनायेगा ?"—बोली पपिहरा।

"छोड़ दे, नहीं तो एकाध चपत दे दूँगा...." कैलाश बिगड़ा।

"चपत मारो अपने गाल पर कैलास भैया ! लो, मैं इन्हें छोड़ देती हूँ"—पपिहरा ने दीपक का हाथ छोड़ दिया।

"जा भाग यहाँ से...."

"दुतकराते क्यों हो जी, मैं खुद ही चली जाऊँगी...."

"वह आम इधर देती जा..." कैलाश ने कहा।

"नहीं देती—" पपिहरा बोली—"इतने पेड़ हैं, चढ़कर तोड़ क्यों नहीं लेते ?"

पपिहरा चलने लगी। जाते-जाते दीपक से बोली—"देखो जी ! अगर कल तुम कहानी की किताब लेकर नहीं आये तो खुदा कसम इसी तालाब में कूदकर जान दे दूँगी अपनी....कहानियाँ मुझे बड़ी अच्छी लगती हैं...."

पपिहरा चली गई।

कैलाश बोला—"बड़ी भोली है। है तो मुसलमान की छोकरी मगर सारा गाँव इसे चाहता है। गाती है इतना अच्छा कि बस, सुनते ही रहो। चञ्चल भी बहुत है...."

दीपक एकटक पपिहरा की ओर देख रहा था। भोली पपिहरा

चली जा रही थी, ओढ़नी में बँधे हुए आम की गठरी हाथ में पकड़े।

सामने से दो शराबी झूमते हुए चले आ रहे थे। एक ने कहा—"यार जुम्मन! देख तो—वह चली आ रही है पपिहरा! जवानी क्या है जैसे भरी बोतल—एक प्याली पियो तो मजा आ जाय...पियोगे जुम्मन!...."

"जाने दो यार! फुलझड़ी को मत छेड़ो....कहीं रसूल से कह दिया इसने जाकर, तो वह हाथी का बेटा अपना भेजा ही निकाल डालेगा...."

"उसकी ऐसी की तैसी!....मैं तो इससे आज जरूर बोलूँगा... हाय-हाय! क्या चाल है, क्या अदा है, क्या भोलापन है...कमरिया नागिन-सी बल खाय जुम्मन!...देखो तो...."

पपिहरा बगल से निकली, तो उसने कलेजे पर हाथ रख लिया। बोला—"अरे पपिहरा रानी! जरा इधर भी देख लिया करो रुक कर...अब तो गुलाब की खुशबू बरदाश्त के बाहर होती जा रही है...."

पपिहरा रुक कर बोली—"क्या है?...."

"जरा नैनों से नैना मिलाये जाओ..."

"लो!...." पपिहरा ने उसके पास आकर इतनी तीव्र दृष्टि से देखा उसकी ओर कि वह गिरते-गिरते बचा। डर से कई पग पीछे हट गया।

पपिहरा चली गई तो जुम्मन बोला—"क्या हुआ, डर क्यों गये?"

"अरे यार! वह तो इस तरह लपकी आँखें निकाल कर कि मुझे लगा कहीं मेरी नाक ही न काट खाय....जुम्मन भाई! नाक रहे तो सभी कुछ है....है न?"

"हाँ म्याँ!...."

और दोनों झूमते हुए आगे बढ़ गये।

उफ ! अब आगे नहीं लिखा जाता। इतना लिखते-लिखते एकदम थक गया हूँ मैं। यह उपन्यास लिखने की खब्त भी बुरी बला है। ईश्वर न करे कोई उपन्यास-लेखक बने।

मेरी जिन्दगी भी क्या रही है, जैसे तूफान में पड़ा हुआ काँपता पेड़। एक क्षण को भी चैन नहीं। सुख क्या है, शान्ति क्या है और क्या है आराम, इन्हें शायद मैंने सपने में भी न जाना हो।

मैं उन व्यक्तियों में से हूँ, जो अपने दिमाग का खून बहाकर पेट पालते हैं। लिखता हूँ—खूब लिखता हूँ। लिख-लिखकर दर्जनों पोथे रंग डाले हैं। वे पुस्तकें बाजार में असली घी की मिठाई की तरह बिक रही हैं और दुबले-पतले प्रकाशक मेरी लेखनी के बल पर इस समय इतने मोटे हो रहे हैं कि साल-दो साल में घर का दरवाजा उनके लिये सँकरा अवश्य हो जायगा।

प्रकाशकों को अपना खून पिलाकर पाल रहा हूँ मैं—जानता हूँ कि ये नाग दूध पीकर अन्त में जहर ही उगलेंगे, फिर सोचता हूँ, शायद मेरा खून पीकर इनका विष कुछ मन्द पड़ जाय।

अकेला नहीं हूँ मैं। देवीजी हैं और पाँच बच्चे, रोते-बिलखते-चीं-चपड़ करते। देवीजी बेचारी बच्चों की यह फौज सम्हालते-सम्हालते रात होने तक एकदम थककर चूर-चूर हो जाती हैं। बगल में सोती हैं तो दो चार मीठी बातें करके, मेरा जी बहलाकर नींद में अपनी थकान मिटाने लगती हैं।

उस देवी के त्याग और तपस्या पर मुझे बड़ी दया लगती है। एक गरीब लेखक लाख चाहते हुए भी अपनी पत्नी को क्या सुख दे सकता है ? सात जीवों का यह परिवार केवल मेरी कलम और मेरे मस्तिष्क पर आश्रित है। एक कलम, एक दावात और एक दिमाग—उधर सात-सात खाने वाले—कहाँ से पेट भरे ?

सो हम सब केवल दिन में एक बार खाते हैं—सो भी शायद आधा ही पेट। उधर प्रकाशकों के स्त्री-बच्चे, सोने के भोजन और दूध के कुल्ले करते हैं। कितना अन्तर है इन दो श्रेणियों में? एक है श्रमजीवी, तो दूसरा है सेठ—एक है अमीर तो दूसरा गरीब। हमारे परिश्रम के बल पर मौज उड़ानेवाले ये धनिक एक क्षण के लिये भी रुक कर हमारे विषय मे नहीं सोचते—फुर्सत ही नहीं मिलती उन्हें।

दो दिन से कुछ खाया नहीं है मैंने, केवल पका हुआ पानी पीकर रह रहा हूँ—कई दिनों से ज्वर आ रहा था, सो उपवास का सहारा ले लिया है। दूसरे, घर में दाने भी कम थे। और जेब में पैसे की जगह शून्य रक्खा था। आवश्यकता के समय न तो प्रकाशक ही कृपा करते हैं और न तो भगवान ही।

यही किताब लिख रहा हूँ आजकल। नाम है 'पपिहरा'—सोचता हूँ परिश्रम करके इसे समाप्त कर लूँ, तो सौ-पचास रुपयों का प्रबन्ध हो ही जायगा। इससे अधिक क्या दे सकेंगे ये पाकेट-मार खूनी प्रकाशक?

भूखा पेट और ज्वर से तप्त शरीर लेकर सबेरे चार बजे ही उठ गया हूँ। पुस्तक तो समाप्त करनी ही पड़ेगी—नहीं तो ये भूखे-बच्चे, कृषकाय पत्नी! बड़ी आफत है।

सर में दर्द है—खाँसी आ रही है—सीने में साँस समाती ही नहीं, फिर भी कलम चलाये जा रहा हूँ। शरीर के साथ इतना अत्याचार केवल हम भारतवासी ही कर सकते हैं। जहाँ पेट की समस्या इतनी विकराल हो, वह देश गुलाम ही रहे तो अच्छा।

अभी-अभी मुर्गा बोला है। प्रातः जागरण का मधुर सन्देश उसने सुना दिया है—अब कोई उठे या न उठे—मैं तो उठ ही गया हूँ और लिख भी रहा हूँ।

और बुखार भी है, खाँसी भी तथा सर में पीड़ा भी।

हाथ में काँपती हुई कलम है और सामने खुली हुई दावात और सफेद कागज।

और मैं लिखे जा रहा हूँ। पुस्तक जल्दी से समाप्त ही कर डालूँ; ऐसा दृढ़ निश्चय कर लिया है।

मुनुआ भी जग गया है और देवीजी भी। मुनुआ रो रहा है। ये बच्चे भी कितने शैतान हैं कि मुर्गा बोला नहीं और इनकी नींद गदहे की सींग हुई—दिन भर तो पें-पें करते ही रहते हैं, रात में भी दम नहीं लेने देते बेईमान!

देवीजी उसे चुप करा रही हैं, मगर मानेगा नहीं वह।

और अब देखिये!

प्रभा भी उठ गई और आलोक-त्रिलोक भी उठ बैठे—जैसे एक सियार का हुँवाना सुनकर सभी स्यारों को हुँवास लग गई हो।

कितना अस्तव्यस्त जीवन है!

देवीजी ने सर घुमाकर मुझे लिखते देख लिया है। वे जानती हैं कि इन लड़कों का इस तरह से हुँआना मुझे जरा भी पसन्द नहीं, अतः उन्हें चुप कराने में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। मुनुआ को छाती से लगाकर उसे दूध पिलाने लगी हैं। मगर मैं जानता हूँ कि सूखी ठठरी पर लटकी हुई उन दो छातियों का सारा दूध अभाव की आग ने सोख लिया है। अब वहाँ क्या है? केवल चाम और माँस का लोथड़ा और उसके पीछे धड़कता हुआ माँ का एक सुकुमार दिल।

परन्तु चाम चूसने से कहीं बालकों को सन्तोष होता है? तभी तो मुनुआ और जोरों से रोने लगा है। कान के परदे फटे जा रहे हैं। मन में वैराग्य भरता जा रहा है। जी चाहता है कि सबको छोड़कर चल दें कहीं।

मगर ये मासूम बच्चे—

यह कराह-भरी नारी!

मेरे चले जाने पर इनका कौन सहारा रह जायगा ? इनके लिये तो मैं ही भगवान हूँ। इन्हें खाना दूँ तो ये खाँय—कपड़ा दूँ तो पहनें—इन्हें मारूँ तो ये रोयें—कितने निरीह हैं बेचारे ?

मैं पशु बनकर ऐसा क्यों सोचने लगता हूँ ? यदि इन्हें छोड़ दूँगा, तो मौत भी नहीं पूछेगी इन्हें, फिर अत्याचारी नरपशुओं से भरे समाज की तो बात ही अलग।

उजाला हो गया है। मुहल्लेवाले राम-राम जपते उठ बैठे हैं। मैंने भी कलम रोक दी है। लालटेन बुझाकर अँगड़ाई ले थकान मिटाने लगा हूँ।

देवीजी को बगल में खड़ी देखकर मैं उनकी ओर आकर्षित होता हूँ। वे मेरा मस्तक सहलाने लगती हैं।

कहती हैं—"तेज बुखार है, कब से लिख रहे हो ?...."

"यही थोड़ी देर से—"

"कुछ अपने शरीर का भी ख्याल रक्खा करो...."

"शरीर का ख्याल तो रखता हूँ, परन्तु यह पेट अपने वश का नहीं—"

"कल से ही बच्चे कुछ खाये नहीं हैं...."

सुनकर मुझे कितनी ग्लानि, कितना दुख होता है—कह नहीं सकता। इन बच्चों को खाना ही था तो मुझ जैसे दरिद्र के घर जन्म क्यों लिया ?

"न हो तो हरिप्रसाद से कुछ रुपये माँग लो"—वे कहती हैं—"इनकार नहीं करेंगे वे...."

"यह भीख माँगने की कला मुझे नहीं मालूम"—रूखे स्वर में कहता हूँ मैं—"अभी तक मुझमें जीवन शेष है—भीख माँग कर उसका ह्रास न करूँगा—तुम सबको भूख से तड़पते-मरते देख सकता हूँ, अभी मेरा कलेजा इतना मजबूत है—मगर दूसरों से भीख माँगने के लिये मेरे हाथ नहीं उठेंगे...."

मुझमें आत्म-सम्मान की मात्रा बहुत है और यही मेरे। मौत है। देवीजी चुप रह जाती हैं। मुनुआ फिर रोने लगा है—वे व्यस्त भाव से उस ओर चली गई हैं।

मैं उस नारी की सहनशीलता एवं धैर्य पर आश्चर्यचकित हूँ। समुद्र जैसे उसके हृदय में अशान्ति के लिये कोई स्थान नहीं। धीर-गम्भीर है उसका हृदय! कितनी महानता है?

फिर कलम उठा ली है मैंने और पूरी रफ्तार से लिखने लगा हूँ।

नदी की लहरों की तरह बलखाती, पानी की तरह छलकती-इठलाती, फूलों की तरह हँसती-मुस्काती, हाथ में गुलेल और कंधे पर आम की झोली रक्खे पहुँच गई पपिहरा अपने घर।

कच्चा घर। खपरैल का छाजन। लिपा-पुता, साफ-सुथरा दूर से ही झलक रहा था। छोटा-सा दरवाजा बाहर से बन्द था। साँकल खोलकर पपिहरा अन्दर आई और छोटे से खटोले पर आम की गठरी पटक दी उसने। हाथ की गुलेल खूँटी पर रख दी। फिर खटोले पर जा बैठी।

बड़बड़ाने लगी अपने आप—

"अभी तक नहीं आये रसूल भैया! पीकर पड़े होंगे कहीं धूल में....बीस दफा कह दिया भैया हो, यह लुच्चई छोड़ो, यह बोतल का खून पी-पीकर क्या करोगे, मगर कौन सुनता है मेरी....एक दिन खाना न पकाऊँ तो भूखों मर जाँय...कहती हूँ कि शादी कर लो, घर में बीवी लाओ और उस पर हुकुम चलाओ....मैं कोई जनम भर की बाँदी थोड़े ही हूँ—सुन कर हीं-हीं कर देते हैं, बस!....आने दो, तो मैं भी देखूँगी आज!..."

"लोगों के सीने पर...."

"फिर ?...."

"फिर लोग कलेजा पकड़ कर कराह उठते थे, घायलों की तरह तड़पते थे दिन-रात मेरे लिये....और मैं थी कि बुलबुल की तरह उड़ती फिरती थी कि किसी का पकड़ना मुश्किल...."

"ऐसी थीं तुम दादी ?" पपिहरा आश्चर्य में भरकर बोली।

"हाँ रे हाँ! आँखें कपार पर क्यों चढ़ाती जा रही है, यकीन नहीं आता क्या तुझे ?..." बुढ़िया ने हाथ की उँगलियों को इस तरह नचाया कि उनसे बीती जवानी की अदा छलक-छलक कर रह गई।

"मुझे यकीन है दादी! तुम भी अपने जमाने की एक ही थीं..." पपिहरा ने कहा।

बुढ़िया, पड़ोस के नाते पपिहरा की दादी लगती थी। यों कोई नजदीकी रिश्ता नहीं था। पपिहरा के लिये केवल एक ही व्यक्ति अपना था, उसका भाई रसूल। गाँव भर में अपनी गुण्डई और हेंकड़ी के लिये प्रसिद्ध था वह। सभी उससे डरते थे। दूर-दूर तक उसका नाम जलती आग की तरह फैला हुआ था।

"क्या वक्त होगा बन्नो !...." पूछा बुढ़िया ने।

"अब तो साँझ हो चली है दादी !" बोली पपिहरा—"दीवट जला दूँ क्या ?"

"हाँ बेटी !...."

पपिहरा ने कड़वे तेल का दीवट जलाया, फिर आकर बुढ़िया के पास बैठ गई।

"रसूल अभी तक नहीं आया क्या ?...."

"नहीं दादी !"—पपिहरा ने कहा—"आजिज आ गई हूँ रसूल भैया से !"

"अरी छोकरी ! तू उस बेईमान के लिये क्यों परेशान होती है ?....चल खा-पीकर आराम से सो रह !"

"भैया को तकलीफ होगी दादी !"

"कहाँ का भैया रे लड़की ?"—बुढ़िया पोपले मुँह से हो-होकर हँसी—"वह तेरा है कौन, जो उसके लिए परेशान होती है तू ?...."

"क्या कह रही हो दादी तुम ?...."

"हाँ रे हाँ ! वह तेरा भाई थोड़े ही है..." बुढ़िया ने कहा।

"तो !"

"तू तो रसूल को कहीं से मिल गई थी....जब वह तुझे लाया था तो चार महीने की थी तू...अब जवान हो गई है, तो क्या जानेगी यह सब ?"

बुढ़िया की बातें सुनकर पपिहरा का हृदय धड़कने लगा। यह भेद की बात अब तक वह जानती ही न थी। वह तो रसूल को अपना सगा भाई ही समझती थी।

आज यह भेद जानकर उसे रसूल के प्रति जाने कैसी घृणा-सी उत्पन्न हो गई।

"क्या तुम सच कहती हो दादी ? खुदा कसम ! बिल्कुल सच कहना...."

"सच है बन्नो ! सच है यह !...तेरा वह कोई नहीं है, मगर लड़कपन से ही तुझे दुलार-प्यार करके पाला है उसने...कभी तुझे तकलीफ नहीं होने दी....तेरे लिए अभी तक शादी भी नहीं की उसने...."

"क्यों ? क्या मैं मना करती हूँ उन्हें ? मैं तो रोज ही शादी करने को कहती हूँ—" पपिहरा ने कहा।

"अरे लौंडी ! जब उसकी जोरू आ जायगी, तो तेरे कान ऐंठेगी न ? तब छठी का दूध याद आ जायगा तुझे....हाँ, नहीं तो...."

"अरी दादी ! कान ऐंठेगी तो मैं उसकी नाक ट.
दूँगी...मेरे घूँसे को भी कम न समझना दादी तुम !...."

"हाँ भाई ! नई-नई जवानी है न, तो तेरा घूँसा भी जवानी के आलम से सराबोर होगा....अपने को इस नाक-कान के झमेले में क्या करना है....तू जाने—तेरा काम...."

"तो मैं चलूँ दादी ! मुझे बुखार चढ़ा आ रहा है...."

सुनकर बिगड़ उठी बुढ़िया। बोली—"हरामी की पिल्ली ! तेरे बाप को भी बुखार चढ़ा था कि तुझे ही चढ़ेगा....दिन पर दिन पके फोड़े की तरह तो निखरी आ रही है—और चाहिये ही क्या ?....चल, हट यहाँ से..."

"आज कोई कहानी नहीं सुनाओगी दादी !"

"नहीं ! जा सो रह ! बुखार आ गया है न तुझे ?"

"रखे रहो तुम अपनी कहानी अपने पास"—बोली पपिहरा—"तुमसे अच्छी कहानियाँ तो दीपक बाबू जानते हैं...."

"भला रे भला !"—बुढ़िया मधुर झिड़की देकर बोली—"यह दीपक-दिया तुझे कहाँ से मिल गया ?....जल न तू भी अब दिये की तरह उसके साथ...."

"लो मैं चली दादी !....आदाब !...." झुककर आदाब बजाने लगी पपिहरा ।

तो बुढ़िया बोली—"जरा धीरे से बन्नो ! इतना मत झुक !.... अभी तेरी कमर ने जवानी के सिर्फ चौदह बल ही खाये हैं चौदह साल में। नाजुक है न, कहीं बाँस की तरह लचक न जाय...."

"चलो हटो दादी, तुम तो बड़ी 'व' हो...." होठों पर मदिरा-भरी मुस्कराहट छलका कर बोली पपिहरा और बाहर निकल आई।

अपने घर में आकर, दीपक जला, खटोले पर जा बैठी। धीरे से कुर्ती उतार कर उसने सिरहाने रख लिया।

पपिहरा लेट गई खटोले पर। कमर पर अस्त-व्यस्त लहँगा

...। नीचे की गोरी-गोरी टाँगें और ऊपर की जवानी भरी देह, बिना किसी आवरण के, दीवट के मद्धिम प्रकाश में झिलमिला रही थी।

सोच रही थी पपिहरा, रसूल के विषय में।

तो यह रसूल उसका कोई नहीं है। जिसे वह आज तक अपना सगा भाई समझती आ रही थी, जिसके सुख-दुख के लिए वह हमेशा परेशान रहा करती थी, वह उसका कोई नहीं है—कोई नहीं।

यह घृणा का अम्बार क्यों उठा आ रहा है उसके हृदय में? रसूल का प्यार उसके कलेजे से बाहर क्यों भाग जाना चाहता है?

और वह भयभीत-सी क्यों हो गई है एकाएक? वह अभी कल ही जवान हुई है, और आज सुन रही है कि रसूल उसका कोई नहीं है। वह गुण्डा है, शराबी है, बदमाश है....कहीं वह उसे...

परेशान हो उठी वह सोचते-सोचते। नहीं, रसूल भैया ऐसे नहीं हैं। उन्होंने उसे पाला है बेटी की तरह। वे उस पर कभी आँख नहीं डाल सकते।

तो यह विचार उसके दिल में कैसे उठ खड़ा हुआ? पपिहरा भी कितनी नादान है!

लेटे-लेटे और चिन्तन करते-करते पपिहरा की आँखें बन्द हो गईं। अलसाई हुई देह पर नींद क्रीड़ा करने लगी। साँस आकाश के बादलों की तरह गम्भीर गति से चलने लगी। ठंढी हवा के हल्के झोंके से किवाड़ जरा-सा खुले, फिर बन्द हो गये।

घण्टों बीत चले। सोई रही पपिहरा, बेखबर।

एकाएक किवाड़ पूरे खुल गये। एक भयानक आकृति ने अन्दर झाँक कर देखा।

काला शरीर!—इतना काला कि दीवट के धुँधले प्रकाश में शरीर का रंग नई पालिश की तरह चमक उठा। कमर में छींटदार मैली लुंगी, बदन में पूरी बाँह का कसा हुआ कुर्त्ता। सर खुला, हाथ

में बरछा लगा हुआ। लम्बा लट्ठ और बदन की एक-एक शिकन कसरत से गठी, उभरी हुई।

वह अन्दर आ रहा और भीतर से किवाड़ में साँकल लगा दी उसने। कोने में बरछा रखने के बाद उसने घूम कर खटोले पर लेटी हुई पपिहरा की ओर देखा।

चौंक पड़ा वह। पत्थर बन गया। आँखें फाड़कर पपिहरा को बड़ी देर तक देखता रहा।

पपिहरा जाने किस दुनिया में थी। कमर का लहँगा और भी अस्तव्यस्त हो चला था। साँस की एक-एक गति पर छातियाँ उठती-बैठती थिरक रही थीं। अलकों की एक लट गालों पर इस तरह लोट रही थी, जैसे काली नागिन गोरे चाँद को डँसकर सो गई हो। होंठ कुछ-कुछ मुस्कराते-से थे, जैसे किसी का आवाहन कर रहे हों।

वह देख रहा था एकटक। पैर शराब के नशे से बेकाबू होकर लड़खड़ा रहे थे।

उसने अपनी आँखें बन्द कीं, फिर खोलीं—फिर बन्द की—खोलीं! सौंदर्य की खिली हुई कली उसके सामने छितराई पड़ी थी। मदिरा ने दिमाग बेकाबू कर दिया था। यह दृश्य असह्य हो उठा उसके लिये।

वह आगे बढ़ा। खटोले के पास आकर खड़ा हो गया। एक बार पुनः देखा—दिमाग की रगें झनझना उठीं।

धीरे से बैठ गया वह खटोले पर।

जगी नहीं पपिहरा। वह एक मादक स्वप्न देख रही थी। देख रही थी वह कि दीपक की गोद में सर रखकर वह लेटी हुई है और उसके कानों के पास अपने होंठ लगाकर दीपक एक मधुर प्रेम-कहानी कह रहा है। विभोर है पपिहरा, सुध-बुध भूल बैठी

है। दीपक की साँसें उसके गालों पर लोट रही हैं। कितनी अच्छी कहानी है वह ?

तभी, जैसे किसी ने एक जलता अंगारा रख दिया उसके होठों पर ! चुम्बन की यह अनुभूति उसके लिये एक दम नई है। वह पागल हो उठी है। मादकता सहनशीलता की सीमा पार कर गई है। वह चिल्ला उठती है—"नहीं ! अभी नहीं !...यह सब अभी नहीं....नहीं..."

तभी उसकी आँखें झटके के साथ खुल गईं। छातियाँ अब तक तेजी से उठ-बैठ रही थीं। उसने देखा कि वह उस दीर्घाकार काले दैत्य की गोद में पड़ी है।

जैसे साँप ने काट लिया हो उसे, जैसे बिजली का सोंटा उसके नंगे सीने पर सटाक से आ पड़ा हो—वह चीखकर, छिटककर दूर जा पड़ी उसकी गोद से।

बोली—"रसूल भैया तुम ?..."

रसूल ठठाकर एक भयानक हँसी हँस पड़ा और लोलुप दृष्टि से पपिहरा की ओर देखने लगा। उसकी आँखों में शराब की आग जल रही थी।

अब पपिहरा का ध्यान अपने नंगे बदन की ओर गया। उसने लपक कर अपनी ओढ़नी उठा ली और ज्यों-त्यों करके शरीर पर लपेट ली। हँसता चाँद बदली की ओट में छिप गया।

परन्तु रसूल की आँखें उसे इस तरह से घूर रही थीं, जैसे फटी ओढ़नी को भेदकर अन्दर कलेजे तक पैठी जा रही हों।

उस दृष्टि को देखकर पपिहरा काँप उठी। रसूल ने वैसी भेदक दृष्टि से उसे कभी नहीं देखा था—कभी देखता नहीं था—तो आज क्या हो गया है उसे ? क्या सोने के पहले उसके दिमाग में आया हुआ भय साकार होना चाहता है ?

यद्यपि रसूल ने उसे कभी आज तक बहन कहकर नहीं पुकारा

था, परन्तु इससे क्या ? वह तो रसूल को 'भैया' कहती है। आज क्या हो गया है उसके भैया को ?

"पपिहा !...." पुकारा रसूल ने ।

तो चौंक पड़ी पपिहरा, रसूल की आवाज में वासना की बदबू पाकर ।

"इधर आ पपिहा ! " रसूल ने पुनः कहा ।

"मैं नहीं आती रसूल भैया !...." डरी आवाजमें बोली पपिहरा।

"क्यों ?...."

"खुदा कसम ! मुझे बहुत डर लग रहा है....तुम बाहर जाकर सो रहो भैया ! मुझे दिक न करो...मैं बसीदा दादी को पुकारती हूँ..."

"अगर जरा भी जबान खोली तो तेरा गला टीप दूँगा...." क्रोध भरे स्वर में कहा रसूल ने और आगे बढ़कर पपिहरा का हाथ पकड़ अपने पास खटोले पर खींच लिया ।

शराब की बदबू से पपिहरा की नाक बँध गई। वह रोती हुई बोली—"खुदा कसम ! मैं मर जाऊँगी रसूल भैया !....मुझे छोड़ दो....तुम अपनी शादी कर लो...."

"शादी तो की है..."

"किससे ?"

"तुझसे !....और किससे ?...."

"चुप रहो भैया तुम !...."

"मुझे भैया मत कह"—बोला रसूल—"समझी ! मैं तेरा भाई नहीं हूँ..."

"या खुदा ! फिर कौन हो तुम ?...."

"मैं तेरे बाप का दुश्मन हूँ...."

"और मैं ?"

"तू मेरे दुश्मन की बेटी है"—कहा रसूल ने—"तेरे बाप ने

मुझे तबाह किया था और मैं तुझे चुराकर यहाँ उठा लाया। सोचा था, जब तू जवान होगी तो तुझे अपने पैर की जूती बनाकर तेरे बाप को दिखाऊँगा....''

''यह सब कहानी है रसूल भैया! मैं तुम्हारी कहानी नहीं सुनना चाहती। मैं बसीदा दादी की कहानी सुनूँगी। तुम्हारी कहानी बड़ी डरावनी है। चुप रहो तुम....''

''तू इतनी जल्दी जवान हो गई, यह मुझे मालूम ही न था''— बोला रसूल—''आज तुझे इस हालत में न देखता तो जानता भी नहीं कि अब मेरे इन्तकाम का वक्त आ गया है...''

कहकर रसूल ने पपिहरा को जबर्दस्ती गोद में उठा लिया। पपिहरा का नाज़ुक बदन जैसे चक्की में पिसकर रह गया।

''मुझे छोड़ दो रसूल भैया!''—चीखकर बोली वह—''खुदा जानता है, मैं तुम्हारी बहन हूँ...''

''बहनें मुझे बहुत-सी हैं....आज या तो अपना इन्तकाम ही लूँगा या तेरा खून करूँगा....'' दाँत पीसकर बोला रसूल। उसका दैत्याकार शरीर पपिहरा को जकड़े हुए था। वह पूरा मदहोश बन चुका था।

उसने चीखती हुई पपिहरा को उठाकर खटोले पर पटक दिया।

''रसूल भैया!....'' चिल्ला उठी पपिहरा—''उफ! या खुदा। छोड़ो...छोड़ो!....कमीने कुत्ते!....ज़लील....शैतान!...''

पपिहरा ने अपने दाँत रसूल की बाँह में गड़ा दिये। खून बह चला। रसूल का बन्धन कुछ ढीला हुआ। उसी समय पपिहरा ने अपना हाथ छुड़ाकर रसूल के मुख पर मारना शुरू कर दिया। घूँसे खाकर रसूल की नाक खून उगलने लगी।

वह पैशाचिक अट्टहास कर उठा—''बेईमान की बच्ची! मैं तेरा खून करूँगा....''

लपककर उठा वह और कोने में खड़े हुए बरछे की ओर बढ़ा। लम्बा बरछा उसने मजबूत हाथों में पकड़ लिया।

बरछा हाथ में लेते ही उसके दिमाग का एक सिरा भन्ना उठा।

जिसे उसने इतने दिनों तक पाला-पोसा, जिलाया-खिलाया, उसी का खून करेगा वह ?

उसे पपिहरा के बचपन के दिन याद आये। कितनी भोली-सी मासूम बच्ची थी वह।

उफ!

हाथ में बरछा लिये वह निश्चल खड़ा रहा। मस्तक में आँधियाँ चलने लगीं। बरछा कोने में फेंककर उसने अपना मस्तक पकड़ लिया और दौड़कर बाहर पत्थर के चबूतरे पर आ बैठा।

वह आज क्या करने जा रहा था ? इतना बेताब तो वह कभी नहीं हुआ था ? यह हैवानियत उसके दिल में कैसे घर कर गई ?

शराब का नशा उतर चुका था। दिमाग चिन्ता में चक्कर खा रहा था। ज्यों-ज्यों वह सोचता गया, त्यों-त्यों उसका हृदय ग्लानि से भरता गया।

चाँद उग आया था परन्तु रसूल को लगा, जैसे आज का चाँद जेठ-वैशाख का सूरज बनकर आग के शोले उगल रहा हो। ठंढी हवा के झोंके लू बनकर उसे जलाने लगे। बेला की महक उसके नाक में बदबू बनकर बलबला उठी।

हैं ! यह क्या हो रहा है ?

उसने अपना मस्तक धीरे से ठोंका। चोट खाकर मस्तिष्क और भन्ना उठा।

तो क्या वह पागल हो जायगा आज ?

उसने इधर-उधर देखा। पत्थर का एक बड़ा-सा टुकड़ा पड़ा था नीचे। उसने झुककर उसे उठा लिया।

हाथों में हरकत हुई, और....

से आँखें लड़ा बैठी। एक दिन रसूल ने धड़कते हुए कलेजे और जलती हुई आँखों से वह दृश्य देखा। देखा—उसकी बीवी, एकदम नग्न—और सेठ रतनलाल, शराब में चूर-चूर—एक ही सोफे पर, गले में बाँहें डाले, होंठों से होंठ सटाये....देखता रहा रसूल। उस वक्त बोला नहीं कुछ। जब बीवी घर आई, तो उसने उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दिया, छूरे से उसके स्तन काट लिये, तड़पा-तड़पा कर मारा उसने अपनी बीवी को और लाश ले जाकर एक कुँए में डाल दी। तभी से रसूल का दिमाग बिगड़ा। वह शराब पीने लगा, गुंडई पर उतर आया। इसके पहले वह पानी-सा स्वच्छ था....और एक दिन इन्तकाम की आग में जलता हुआ रसूल, चुपके से सेठ रतनलाल की बेटी चुरा लाया और रातों-रात इस गाँव में आ बसा, जो उस शहर से बहुत दूर था...

शराब का नशा चढ़ा आ रहा था। पहले की घटनायें सोचते-सोचते उसका दिमाग फिर खराब हुआ जा रहा था। पशुत्व जाग उठा था। दाँत पीसने लगा था वह। बदला लेने की आग धू-धू कर जलने लगी थी।

एकाएक वह उठा, तेजी से। दौड़ा दरवाजे की ओर। भड़ाक से किवाड़ खोलकर वह बेखबर सोती हुई पपिहरा पर झपट पड़ा। चिल्लाया—"बदला लूँगा मैं...मैं तुझे बरबाद करूँगा....तुझे मिटा दूँगा...तुझे कुतिया बनाकर छोड़ूँगा..."

पपिहरा जागी, चीखी, चिल्लाई और....

और कलम मेरे हाथ से छूटकर गिर पड़ती है तो मैं देखता हूँ कि मेरा हाथ काँप रहा है। सर का दर्द इतना बढ़ गया है कि सम्हले नहीं सम्हलता। बड़ी देर तक लिखता रहा हूँ। कमजोर

शरीर, उस पर से आवेश—अब लिखा नहीं जायगा मुझसे! कलम उठाकर मैंने कान में खोंस ली है। पचास पृष्ठों के उस बंडल को मैं हाथ में पकड़े हसरतभरी निगाहों से देख रहा हूँ। लगता है जैसे उसका एकएक अक्षर मेरी भूख की ज्वाला से विदग्ध होकर काला पड़ गया है। कुछ ही दिनों में मेरी यह निधि, किसी लोभी प्रकाशक के लिये वरदान प्रमाणित होगी। दिमाग के एक-एक रग को खींच-तान कर यह चीज मैं तैयार कर रहा हूँ—परन्तु सौ-पचास रुपयों से अधिक मूल्य नहीं इसका, आज की दुनिया किसी के खून की कीमत क्या समझे।

मैं हस्तलिपि को उठाकर कलेजे से दबा लेता हूँ। सच कहता हूँ, इतनी गर्मी प्रेयसी के सुपुष्ट वक्षस्थलों में भी नहीं होगी। मुझे बड़ी राहत मिल रही है। उसे हृदय से लगाये मैं विमुग्ध हूँ—लगता है जवानी की सोलह साल की मादकता लिये कोई युवती आकर लिपट गई हो मेरे धड़कते सीने से। मेरी धड़कन इन स्पष्ट अक्षरों की एक-एक उभार महसूस करने लगी है। कितनी मादकता है। मैं भूला जा रहा हूँ...सब कुछ भूल जाना चाहता हूँ।

यह लीजिये, मैंने इसे चूम लिया। बेताबी से भरा हुआ यह चुम्बन कागज पर जैसे जलती आग छोड़ गया है। मैं तड़प उठता हूँ—बेचैन हो जाती हूँ। चुम्बनों की बौछार कर देता हूँ अपनी प्रेयसी के सलोने मुख पर—ऐसी प्रेयसी, जिसे मैंने बड़ी तपस्या के बाद पाया है—जिसके लिये अपने-आप तक को उत्सर्ग कर दिया है मैंने। मैं उसका हूँ और वह मेरी।

जी हाँ! यह हस्तलिपि ही मेरी प्रेयसी है।

उसे सीने से लगाये मैं कहता हूँ—"मेरी रानी! कभी तुम पूर्ण होगी—तुम्हारी पूर्णता ही तुम्हारा यौवन है, जिसका मैं पुजारी हूँ....प्रेयसी की यह पूर्णता ही तो पुरुष के लिये पूजनीय है...."

बक रहा हूँ—बके जा रहा हूँ, तभी आ पहुँचती हैं देवीजी!

शायद 'रानी-रानी' की मेरी पुकार सुनकर उन्हें कुछ शंका हुई है, तभी तो वे लपकती हुई आ गई हैं ।

मुझे कागज को कलेजे से लगाये देखकर हँस पड़ती हैं वे। वैसी हँसी शायद आज पहली बार देख रहा हूँ उनके मुख पर। मेरा पागलपन देखकर ही उन्हें ऐसी हँसी आई है।

और मेरे पागलपन का भी क्या कोई ठिकाना है? सचमुच तो पागल नहीं हुआ जा रहा हूँ मैं? क्या बात है? मस्तिष्क भी उड़ा जा रहा है। रग-रग टूट रहा है। कई दिनों का भूखा, बुखार में बुत्त और उस पर से इतना परिश्रम—भला आदमी पागल न हो जाय तो क्या करे?

"किस रानी को पुकार रहे हो जी?" पूछती हैं वे।

मैं—"तुम्हीं को तो—कहाँ थीं?"

वे—' क्या झूठ बोलते हो—अब तो कलम-दावात-कागज से प्यार हो गया है तुम्हारा, फिर स्त्री-बच्चों की सुध कहाँ से आये? सबेरे से लिखने बैठे हो, तब से एकबार भी सर उठाकर सामने नहीं देखा...."

मैं—"कोई दिखाई ही न पड़ा तो देखता किसे?"

वे—"जो आँखें बन्द कर ले—उसे कोई दिखाई ही क्यों पड़ेगा?....तुम तो लिखते-लिखते जाने कहाँ जा पहुँचते हो?"

यह सच है। उन्होंने सच कहा है। मैं आँखें मूँद कर लिखता हूँ। आस-पास क्या हो रहा है, फिर पता नहीं रहता।

यह एकाग्रता, यह चिरन्तन चिन्तन ही तो सिद्धि की सीमा है?

कभी-कभी हृदय में यह ख्याल होता है कि मैंने सिद्धि पा ली है।

परन्तु जब मैं अपने अस्त-व्यस्त जीवन, अभाव-भरी गृहस्थी तथा तड़पते हुए आश्रितों को देखता हूँ तो लगता है कि सिद्धि तो अभी दूर है—बहुत दूर।

जहाँ धन नहीं—

मुख नहीं—

आराम और मानसिक शान्ति नहीं—

वहाँ न तो सिद्धि है, न सफलता।

न शान्ति है—न सुख !

मृत्यु इससे हजार गुनी अच्छी है। मगर ताल ठोंककर लड़नेवाला इन्सान मौत नहीं चाहता। वह तड़पते-सिसकते, टूटी टाँग लेकर घिसटने में ही जीवन की सार्थकता समझता है।

मैं भी जीवन चाहता हूँ। जीते रहना चाहता हूँ। रोना-हँसना तो लगा ही रहता है—मगर जीवन और जवानी तो एकबार जाकर फिर आते नहीं।

फिर...

सर उठाकर देखता हूँ तो देवीजी चली गई हैं।

और वह कागज का बंडल अब तक मेरे कलेजे से दबा है। याद ही न रहा कि उसे अपने से अलग कर सकूँ। जिसे एक बार कलेजे से लगा लिया, अपना लिया, उसे निष्ठुरतापूर्वक विलग करने में भी तो वेदना होती है।

मगर इसे अलग करना ही पड़ेगा, नहीं तो शायद पागल हो जाऊँ मैं।

धीरे से वह हस्तलिपि नीचे रख दी है मैंने। खड़ा होता हूँ तो पैर लड़खड़ा जाते हैं। कितने कमजोर हैं ये पैर? छटाँक भर का बोझ भी सम्हाल सकना मुश्किल है इनके लिये—

चारपाई पर बैठता हूँ तो वह हिल उठती है, जैसे भूडोल आ गया हो। चक्कर आ जाता है। मैं धीरे से लेट जाता हूँ। आँखें खुली हैं—देख रहा हूँ कि देवीजी थाल में कुछ लेकर चारपाई के पास खड़ी हैं और वेदनाभरी आँखों से मुझे देख रही हैं।

क्या मेरी तबियत ज्यादा खराब हो गई है? कुछ समझ में नहीं आता।

लगता तो ऐसा ही है—जैसे सारा बदन आग पर रखा है, जल रहा है—ज्वाला का ताप असह्य हो गया है मेरे लिये।

"कैसे हो ?...." वे पूछती हैं।

कान अब तक सचेष्ट हैं, तभी तो उनका प्रश्न सुन सका हूँ मैं। और आँखें भी देख सकती हैं, यद्यपि अन्धकार का एक हलका परदा सामने खिंच आया है।

बोलने की भी शक्ति है मुझमें।

कहता हूँ मैं—"अच्छा हूँ—क्या लाई हो ?...."

"खाना !....थोड़ा-सा खा लो...." वे बोलती हैं।

भूखा तो हूँ परन्तु पेट में क्षुधा की आग प्रतीत नहीं होती। अभी दस-पाँच दिन तक और भी बिना खाये रह सकता हूँ।

कहता हूँ—"भूख नहीं है ..."

"तुम्हें खाना ही पड़ेगा आज !...." वे हठ करती हैं।

अब कोई उन्हें कैसे बताये कि बिना भूख के खाना हानिकारक होता है। मगर...मगर यह खाना आया कहाँ से ? पैसा था नहीं—तो क्या अब गल्ला मुफ्त बँटने लगा है ? अजीब प्रश्न उठ रहा है मन में। यह खाना कहाँ से आया ? समझ में नहीं आता।

कुछ जाड़ा-सा लगने लगा है।

कहता हूँ—"ऊपर रजाई डाल दो...."

वे—"पहले खा लो !"

मैं—"यह गल्ला कहाँ से आया ?"

वे—"हरिप्रसाद से माँग लाई....सोचा, तुम मुँह खोलकर किसी से कहोगे नहीं और ये बच्चे भूखों मर जायेंगे...."

मैं सन्न रह गया हूँ। चारपाई पर निश्चेष्ट पड़ा हूँ। मस्तिष्क में तूफान आ गया है। सारा बदन काँपने लगा है। यह अन्न ! भीख माँग कर लाया हुआ यह अन्न है ? देनेवाली नारी को आज दूसरों से भीख माँगनी पड़ी। सृष्टि की उत्पादिनी शक्ति दूसरों के

आगे हाथ पसारने गई। उफ! प्रतिष्ठा एवं मानापमान सब कुछ भूल गई है आज की नारी। इतना पतन देखकर मैं मर जाना चाहता हूँ। कितना परिवर्तन हो गया है इन नारियों में!

चिल्ला पड़ता हूँ मैं—"ले जाओ—ले जाओ इस विष की थाल को। तुम मृत्यु लेकर मेरे पास आई हो....जाओ...."

झन्नाटे की आवाज होती है, शायद देवीजी के हाथों से थाली जमीन पर छूट गिरी है। बोला भी तो था मैं इतनी जोर से, जैसे बादल गरजा हो, तभी तो बेहोश हुआ जा रहा हूँ। आँखें बन्द हो चली हैं। बोलना चाहता हूँ, मगर बोल नहीं सकता। उठने की, हिलने-डुलने की शक्ति शून्याकार हो गई है।

किसी के कोमल हाथ मस्तक पर आ पड़े हैं। वही होंगी—दूसरे में इतना मोह कहाँ? दूसरों के स्पर्श में इतने ममत्व का का वैकल्य हो ही नहीं सकता। मेरी शक्ति लुप्त होती जा रही है। मैं एक सपने के बीच से गुजरने लगा हूँ। होश भी है और बेहोश भी हूँ। और इसके बाद पता नहीं कबतक बेहोश रहा हूँ।

आँखें खोलता हूँ तो सिरहाने देवीजी बैठी हैं, आँखों में सारे संसार की विकलता भरे। उन आँखों में आँसू नहीं हैं मगर पुतलियों के पीछे लहराता हुआ सागर मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। बदन पर रजाई पड़ी है। चारों ओर सन्नाटा छा रहा है। लगता है कि आधी रात होने को आई। बाहर कुत्ते भी तो भौंक रहे हैं। ये कुत्ते भी अजीब होते हैं। सारा संसार सो रहा है परन्तु ये कर्त्तव्यशील जानवर अब तक चैतन्य हैं। स्वामिभक्ति की चेतना में सदैव लीन रहनेवाले ये पशु, आज के इन्सान से हजार गुना अच्छे हैं। आज का मानव तो आँख के सामने हाथ जोड़ता है और पीठ के पीछे छुरा भोंकने में भी नहीं हिचकता।

कमरे में जलते हुए कड़ुए तेल का दीपक मैं साफ देख रहा

हूँ। पतली लौ काँप रही है, जैसे जीवन की क्षणभंगुरता तिनके भर के उस प्रकाश में ही लीन हो गई हो।

एक पतंगा भी है—मर जाना चाहता है—दीपक की सुन्दरता पर अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है वह।

मूक कीड़े भी उत्सर्ग की परिभाषा जानते हैं परन्तु हँसता-बोलता मानव क्या जान सके यह सब ?

"कितनी रात गई ?" मैं पूछ बैठा हूँ।

"आधी से ज्यादा...." वे उत्तर देती हैं।

"तुम अब तक बैठी ही हो ?"

"क्या करती ?....मेरी तो जान ही निकल गई थी...."

"क्यों ?..."

"तुम्हारी तबियत जो बहुत खराब हो गई थी...."

ये औरतें भी कितनी कोमल होती हैं ? तभी तो मेरे मरने के पहले ही देवीजी की जान निकल गई और आँख खोलते ही मैं उन्हें पुनः जीवित देख रहा हूँ।

मैं—"बच्चे खा चुके ?"

वे—"हाँ !...."

मैं—"और तुम ?..."

वे—"नहीं..."

मैं—"क्यों ?..."

वे—"तुम जो भूखे रह गये थे...."

मैं—"मेरे सहारे रहते-रहते तुम भी मिट जाओगी..."

वे—"उसी में मुझे सन्तोष है...."

सुनकर मैं चुप रह जाता हूँ। भारतीय नारी कितनी पंगु हो गई है आज—सोचने लगा हूँ। अपने से एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती वह, बिना पुरुष की बाँह पकड़े। पुरुष को जन्म देकर,

शक्ति देकर तथा सहारा देकर, नारी स्वयं अशक्त एवं निराश्रित बन गई है। पुरुष की यह महानता नारी की ही देन तो है।

फिर भी आज का पुरुष, पौरुष से भरकर—सीना फुलाकर नारी के समक्ष खड़ा होता है, उसे मारपीट कर दुलारता है और इस अत्याचार को वह अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। त्यागभरी नारी और पशुत्व-भरे पुरुष में यही तो अन्तर है।

सोचने की आदत मुझे लड़कपन से ही है और मैं अधिक देर तक किसी एक विषय पर सोच नहीं सकता—यह कमजोरी भी मुझमें है। कभी एक की गलती देखकर उसे बुरा समझने लगता हूँ और कभी दूसरे की त्रुटि देखकर उसे।

मेरे तर्क की कसौटी पर जो चढ़ सके वही खरा, बाकी सब नकली।

इस समय ज्वर भी कुछ कम है और मस्तिष्क भी कुछ सीधा हो चला है—तभी विचार की धारायें बहने लगी हैं।

"जागते रहियो !"

बाहर से चौकीदार की आवाज आती है।

सरकार ने धन-जन की रक्षा के लिये इन चौकीदारों की नियुक्ति की है। परन्तु क्या ये चौकीदार अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं? नहीं, मुहल्ले के इस चौकीदार की आवाज आज पूरे दस दिन के बाद सुन रहा हूँ रात के समय। और दिनों शायद जवान चौकीदारिन को लेकर, कथरी ओढ़े, जाड़े की रात काटता रहता था। नाम है उसका रामटहल। बूढ़ा है—मगर उसकी स्त्री अभी 'छलकता जाम' है। तीसरी शादी की है उसने। जाति का पासी है।

मुहल्ले भर में जवान चौकीदारिन के विषय में गहरी चर्चा है। कहते हैं कि बूढ़े से उसकी हविस भरती नहीं—सो जब वह गलियों में 'जागते रहियो' चिल्लाता हुआ घूमता रहता है तो उसकी घर

वाली अपनी कथरी में कितने जवानों को शरण देती है। यह बड़े भेद की बात है। मगर मैं जानता हूँ, क्योंकि अच्छे-बुरे सभी का साथ है और सुन भी लेता हूँ सभी की।

तो यह चौकीदार आज बाहर निकला है। रात ओस से भींगी और अँधेरी है। ऐसे समय भला चौकीदारिन को अकेले चैन कहाँ मिलेगा? तो क्या कोई दूसरा....बेचारा चौकीदार! परन्तु बेचारा क्यों? ये चौकीदार भी तो चोर के मौसेरे भाई होते हैं! आपसे कहते हैं—'जागो' और चोर से कहते हैं—'लूटो' अधिकांश चोरियाँ इन चौकीदारों और पुलिसों के ही कारण तो होती हैं।

भोले-भाले हम और आप इन्हीं भक्षकों पर विश्वास कर लेते हैं। करें भी तो क्या? अंगुल-अंगुल पर अविश्वास करते चलें तो यह जिन्दगी एक इञ्च भी आगे न बढ़े।

चौकीदार-कुत्ते और चौकीदार-इन्सान में कितना महान् अन्तर है?

और अब तो चौकीदार भी दूर निकल गया है। हौली के पास से उसकी अस्पष्ट-सी ध्वनि सुनाई पड़ रही है—जागते रहियो। जाग ही तो रहा हूँ। जब नींद नहीं आती और चारा क्या है?

देवीजी अब तक बैठी हैं। बेचारी के दिल में मेरी अस्वस्थता घर कर गई है। धीरे से मैं उनका हाथ पकड़ लेता हूँ तो वे चौंक पड़ती हैं।

कहती हैं—"तुम्हारा बदन अब तक आग हो रहा है..."

मैं हँस पड़ता हूँ, एक फीकी हँसी—"क्या जल गई तुम?..."

वे—"नहीं तो!"

मैं—"आओ..."

वे—"कहाँ?"

मैं—"मेरे पास आकर सो रहो...."

और मैं उन्हें धीरे से अपनी रजाई में खींच लेता हूँ। जलते बदन से लिपट कर उन्हें भी सन्तोष होता है और मुझे भी।

परन्तु दूसरों को अपनी कथरी में बुलाने वाली उस चौकीदारिन और पति की रजाई में आ लिपटने वाली इस नारी में जो अंतर है, उसमें जमीन और आसमान का दूरत्व आ गया है। उस कथरी में वासना की आग जलती है, शारीरिक-सम्पर्क के शोले भड़कते हैं और तृप्ति के जल से शमन कार्य समाप्त होता है।

और इस रजाई में दाम्पत्य प्रेम का नृत्य होता है, सन्तोष की साँसें निकलती है और त्याग की भावना आकर दुलराती-थपकाती है।

"तुम इतना लिखा मत करो"—प्यारभरे स्वर में कहती हैं वे।

"रानी! तुम शिक्षिता हो—पढ़ने-लिखने की महत्ता मेरे ही समान समझ सकती हो—यही तो व्यसन है—इसमें छोड़कर शायद जिन्दा न रह सकूँ मैं...."

वे—"और इससे लिपट कर तो तुम अपने को और बरबाद कर लोगे...."

ठीक ही कहती हैं वे।

बरबाद होकर रोने-कलपने से तो मर जाना ही अच्छा है। सोचता हूँ कि इस आदत को गोली मार दूँ। कलम तोड़ डालूँ, दावात की स्याही से उनकी चुनरी रँग दूँ और सारे के सारे कागज फाड़फूड़ कर चूल्हे में डाल दूँ, कम से कम एक वक्त की लकड़ी तो जरूर बच जायगी।

सच! इतना कागज़ है मेरी कोठरी में कि यदि उतने ही नोट मेरे पास होते तो पैर जमीन पर न पड़ते।

परन्तु इन कागजों में और काग़जी नोटों में बहुत अन्तर है। कागज तो दोनों ही हैं परन्तु भेद केवल किस्म का है। वैसा ही भेद है, जैसा एक चमार और ब्राह्मण में!

नोट और कागज !

ब्राह्मण और चमार !

यह भिन्नता इन्सान को पागल कर देने के लिये काफी है। ऐसा न हो, तो समाज की शृंखला ही टूट जाय। भिन्नता पर ही तो समाज का आधार है। उन्हीं का आदर है, जिनके पास नोट हैं और वही उच्च हैं, जो वर्णव्यवस्था के अनुसार तीन वर्णों में से हैं।

और वह, जिसके पास केवल कागज है या जो जन्म से चमार हैं—दोनों नीच हैं। आदर या आराम उन्हें उपलब्ध नहीं।

"तुम सो रहो !"—मैं कहता हूँ देवी जी से।

वे—"और तुम ?"

मैं—"मुझे नींद नहीं आती..."

वे—"तो मुझे ही कैसे आ सकती है ?..."

देखा न आपने ? हम दोनों 'दो' होते हुए भी एकाकार हैं। गणित के अनुसार 'एक' और एक मिलकर दो होते हैं, परन्तु यहाँ तो हम 'दो' मिलकर भी 'एक' ही रह गये हैं। जहाँ इतना मोह, इतना अपनत्व हो वहाँ चाहे कुछ भी न हो परन्तु आत्म-सन्तोष तो रहता ही है। धैर्य तो रहता ही है कि जो कुछ होगा, दोनों झेल लेंगे। अवसर आने पर एक दूसरे के होंठों से मुस्करा भी पड़ेंगे।

गृहस्थी की झंझटें सम्हाले नहीं सम्हलतीं जरूर, मगर वैवाहिक जीवन में जो आनन्द है, उसे सोचता हूँ तो हृदय दुखातिरेक की बागडोर तुड़ाकर हँसने लगना चाहता है। यह सम्बन्ध ही ऐसा है, जो जाने किस जन्म के बिछुड़े हुए साथियों को मिला देता है अथवा दो अनजाने जीवों को एक ऐसी डोर में बाँध देता कि लाख कोशिश कीजिये, मगर मजाल नहीं कि यह डोर टूट सके।

संसार में कर्तव्य-भार उतारने के लिये आये हुए प्राणी, ये भक्त, कितने अकर्मण्य हैं ! भावुकता में पड़कर पागल बन गये हैं। सोचते हैं, भगवान् सुनेगा ही—उनकी सहायता करेगा ही।

बेचारे यह जानते ही नहीं कि पत्थर में जीवन नहीं होता—वह अचल है, उसमें हृदय की धड़कन या नाड़ी का कम्पन जरा भी नहीं। हमारी-आपकी कला का यह परिणाम है, जो ठुकराये जाने वाले ये पत्थर मूर्ति का रूप धारण कर मन्दिरों में पड़े हैं और धूप-दीप-नैवेद्य से उपासित होते हैं।

हमीं इन देवताओं के सृष्टिकर्ता हैं। हमीं—आप !

लीजिये ! अब पुजारी महाराज के करताल की ध्वनि बढ़ चली है। कानों के परदे फटे जा रहे हैं। चिल्ला रहे हैं बेचारे सप्तम स्वर में कि ऊँचे आस्मान में छिपकर बैठा हुआ भगवान् उनकी पुकार सुन सके—

शिव शम्भो—जय शिव शम्भो !

और यह शिव-शम्भो की अविराम ध्वनि, मेरे हृदय में भक्ति का सञ्चार करने के बदले प्रबल हास्य का सञ्चार कर रही है। भोले पुजारी बाबा, बुढ़ापे का दामन पकड़ कर भी कितना विकट परिश्रम कर रहे हैं, शायद उतना हम जवान भी न कर सकें। मगर इन पागलों के पागलपन को कौन समझाये। सबेरे-सबेरे घण्टे भर तक बदन धुन लेते हैं चीख-चिल्लाकर, और दिन को चारपाई पर पड़े हुए शिथिलता से 'हेंहें-होंहों' किया करते हैं।

पागलपन ही तो है यह।

आखिर छुट्टी मिली—कान के पर्दों का फटना बन्द हो गया। पुजारी के करताल और कीर्तन रुक गये हैं। मैं भी कलम उठा लेता हूँ और...

फौलादी पञ्जों में जकड़ी हुई मासूम पपिहरा और उसकी अस्मत लूटने पर आमादा शैतान रसूल ! क्या करे पपिहरा, क्या न करे ? कोई उसका सहायक नहीं । गाँव सजग है और पपिहरा की चीखें भी सुनी हैं उसने, परन्तु लगता है जैसे महानिद्रा में लीन हों सारे ग्रामीण । कोई उसको बचाने नहीं आया । पहाड़ जैसे रसूल से सभी डरते थे सो साँप के बिल में कौन हाथ डालना चाहता ?

"रसूल भैया !....रसूल भैया !...." चीख रही थी पपिहरा ।

"शैतान ! मुझे भैया क्यों कहती है ?"—कहकर रसूल ने दो तमाचे जड़ दिये पपिहरा के गालों पर कि पाँचों उँगलियों के दस निशान हस्तरेखा की तरह उभर आये, लाल-लाल ।

पपिहरा की आँखें आँसू उगलने लगीं । अपनी बेबसी देखकर रोने लगी वह । बोली—"लो ! कर लो मनमाना....मैं कुछ न बोलूँगी...जो जी में आये, करो । सोया हुआ गाँव, रोती हुई मैं और हट्टे-कट्टे तुम—ले लो अपना बदला ! एक बेकस लड़की पर खूब दिखलाओ अपनी मर्दानियत !....शैतान की सवारी करके आये हो रसूल भैया तुम ! खुदा कसम, मैं कुछ न बोलूँगी...."

कहकर पपिहरा निश्चल पड़ गई । पपिहरा को कसे हुए रसूल के मजबूत हाथ एकाएक ढीले पड़ गये । अपनी मर्दानियत पर कीचड़ आते देख उसका पुरुषत्व सजग हो गया । उसने पपिहरा को छोड़ दिया । उद्वेग में भरकर अपना मस्तक पकड़कर रह गया वह ।

"रुक क्यों गये रसूल भैया !"—बोली वह—"मैं तैयार हूँ.... जो बचपन से तुम्हें भैया पुकारती आ रही थी, वह आज तुम्हें अपना सब कुछ देने को तैयार है । अपने शैतान से कहो कि आगे बढ़े—मुझे लूटे—मुझे बरबाद करे....अपनी बहन की अस्मत तुम

लूटो भैया और आस्मान पर खड़ा हुआ खुदा तुम्हारा यह खेल देखकर काँपे...जल्दी करो...."

"चुप रहती है कि नहीं पपिहा !"—चिल्लाकर बोला रसूल—"वर्ना मैं तेरी जीभ खींच लूँगा..."

"मुझे मार डालो रसूल भैया ! खुदा कसम, मुझे जीने की चाह नहीं रही। दुनिया में मेरा है ही कौन ? एक तुम थे, सो तुम भी...तुम भी आज हैवानियत से लबरेज हो गये हो...बेसहारों का सहारा मौत है....मुझे मार डालो...."

पपिहरा की बातें तीर-सी चुभी जा रही थीं रसूल के कलेजे में और वह प्रतिक्षण अधिकाधिक वैकल्य से भरता जा रहा था।

उसने खींचकर पपिहरा को अपने कलेजे से लगा लिया। बोला—"पपिहा ! मेरी बच्ची !" आगे कुछ न कह सका वह। आँखें भर आईं, दिल लाख-लाख धड़कनें लेकर उछलने लगा।

पपिहरा बेजान पुतली की तरह उसके कलेजे से सटी रही, रोती रही और रसूल उसके सर पर हाथ फेरता रहा।

"अब रोती ही रहेगी पपिहा तू, या चुप भी होगी कभी"—रसूल ने कहा—"ले, सो जा तू....चुपचाप सो जा...तेरी कसम, अब कभी शराब जो छुई तो तू मेरा गला काट लेना...."

रसूल ने पपिहरा को खटोले पर लिटा दिया और उसके ऊपर कथरी डाल दी। दरवाजा खुला था। वह बाहर आने लगा तो बाहर दो छायाओं को देखकर चौंक पड़ा।

पूछा—"कौन है ?"

"मैं हूँ रसूल भाई !..." उत्तर मिला।

"अरे, छोटे भाई तुम ?....कब से खड़े हो यहाँ...."

"बड़ी देर से !"—कैलाश बोला।

"ये साहब कौन हैं ?"—

"ये हैं मेरे दोस्त—गाँव घूमने आये हैं....दीपक नाम है

इनका....चाँदनी रात थी, सो इन्हें घूमने की इच्छा हो आई। हम दोनों इधर आये तो देखा कि....तुम...."

"तुम क्या सब कुछ देख चुके हो छोटे भैया!...." पूछा रसूल ने।

"हाँ....तुम तो ऐसे नहीं थे रसूल भाई! बुरे के लिये बुरे और भले के लिये भले थे तुम...मगर आज यह तुम पर क्या पागलपन सवार हो गया था?...."

"पागलपन?"—रसूल बड़ी करुण हँसी हँसा—"पागलपन ही कह लो इसे तुम छोटे भैया!....मगर जानवर भी क्या कभी पागल हो सकते हैं? मैं आज सचमुच जानवर बन गया था... आओ, इस चबूतरे पर बैठ जाओ—तुम भी बैठो दीपक भैया..."

सब लोग चबूतरे पर बैठे। बड़ी देर तक बातें होती रही।

दूसरे दिन!

तालाब की सीढ़ियों पर बैठा हुआ दीपक, सामने के बरगद की आड़ में डूबते हुए सूरज को देख रहा था। तभी किसी ने पीछे से आकर उसकी आँखें बन्द कर लीं। चौंक पड़ा वह, जैसे तमाम शरीर में बिजली सनसना उठी हो। आँखें बन्द हो जाने से इतनी मादकता-सी कैसे भरी जा रही है उसके रग-रग में?

उसने अपना हाथ बढ़ाकर, आँखें बन्द करनेवाले का हाथ पकड़ लिया। कितना मुलायम था वह हाथ, जैसे साँप का बदन। दीपक ने हाथ हटाकर आँखें खोलने का प्रयत्न किया तो बन्द करनेवाले ने और कस लिया। दीपक ने झटका दिया। कोई भद्द से उसकी गोद में आ गिरा और आँखें खुल गईं। देखा—तो पपिहरा थी।

"अरे तुम?...." बोला दीपक।

"चलो हटो!"—सम्हलती हुई पपिहरा बोली—"बड़े जोर

दिखानेवाले बने हो। कहाँ तो मैं आई थी तुमसे कहानी सुनने और कहाँ तुम लगे मुझे झटकने...."

"कहानी सुनोगी ?...." पूछा दीपक ने।

"सुनूँगी क्यों नहीं ? इसीलिये तो आई हूँ"—पपिहरा दीपक से सटकर बैठती हुई बोली—"अब जल्दी से शुरू कर दो...."

दीपक का हृदय आज पपिहरा को देखकर न जाने क्यों धड़क रहा था ? प्रेम उसने कभी किया नहीं था परन्तु आज जैसे कोई कोड़े मार-मार कर प्रेम करने पर आमादा कर रहा था।

बोला वह—"सुनो !....एक जवान था...."

"और ?...."

"और एक लड़की थी..."

"कैसी ?..."

"ऐसी !...." कहकर दीपक ने पपिहरा की ठुड्डी पकड़ ली।

"धत्त !...आगे कहो...." बोली पपिहरा।

दोनों तालाब के किनारे बैठे थे—पास-पास....

"एकदम पास-पास बैठे थे क्या ?...."

"हाँ !..."

"कितने पास ?...."

"इतने !..." दीपक ने खिसक कर पपिहरा को बगल में दाब लिया और उसका हाथ अपनी हथेली में लेकर मादक गति से दबाया।

"अरे !..." पपिहरा चौंक कर बोली—"अच्छा तब ?"

"युवक ने लड़की का हाथ पकड़ लिया"—दीपक ने कहा—"और उसे यों लपेट लिया..."

"यों !"—काँपती आवाज में पपिहरा ने कहा, जब दीपक ने भर-जोर उसे अपने सीने से दबा लिया—"तुम्हारी कहानी तो बड़ी

ैसी है जी...यह देखो, मेरा कलेजा धड़कने लगा....'' पपिहरा ने ीपक का हाथ अपने उछलते सीने पर रख लिया।

"और तब युवक ने जानती हो क्या किया ?..." दीपक बोला।

"क्या किया ?...."

"यह !"

एक जलता अंगारा पपिहरा के मासूम होठों पर गिरा। चुम्बन की यह अनुभूति उसके लिये एकदम नई थी।

वह घबरा कर दीपक से और लिपट गई। बोली—"दीपक, यह क्या है ? यह कैसी कहानी है ?"

दीपक कैसे समझाये उसे कि यह उसके दिल की कहानी है।

देवी जी ने आकर बाहरी दरवाजा खोल दिया है और मधुरता भरकर कहती हैं—"बाहर धूप आ गई है, चारपाई डाल दी है—चलकर उसी पर बैठो...."

जाड़े के इस ठिठुरते सबेरे में धूप तो अमृत जैसी लगती ही है।

सो मैं भी कलम रोककर उठ खड़ा होता हूँ। पैर की कमजोरी कम्पन ला देती है शरीर में तो देवी जी बगल में आकर मुझे सम्हाल लेती है। मैं अपना सारा बोझ उनके कंधों पर डाल देता हूँ और दरवाजे की ओर बढ़ता हूँ।

ये नारियाँ जितनी ही कोमल होती हैं, उससे बढ़कर आश्चर्य-जनक सहारा भी दे देती हैं कभी-कभी।

कितना मधुर है यह सहारा ?

कोमल कन्धों पर भार देकर चल रहा हूँ मैं। सोचता हूँ कि

गाँधी जी भी तो इसी तरह चला करते थे। अन्तर केवल इतना है कि वे वृद्ध थे और मैं जवान, वे युग-पुरुष थे और मैं युग-कीट, उनके दोनों तरफ दो सहारे रहते थे और मेरे लिए तो केवल एक ही सहारा है।

काफी है यह एक सहारा ही मेरे लिये।

दरवाजे तक आ पहुँचा हूँ। बड़ी जल्दी आ गया दरवाजा। चाहता तो यह था कि यह मञ्जिल कभी पूरी ही न हो और मैं यों ही उस मादक सहारे के सहारे आगे बढ़ता चलूँ....आगे....और आगे....और जीवन का अन्तिम छोर चूम लूँ।

मगर मन की चाही कभी नहीं होती।

तभी तो दरवाजा लाँघ कर चारपाई के पास पहुँच गया हूँ। बदन में धूप लगी है तो ऐसा मालूम होता है कि कोई गरमागरम जवानी लेकर मेरे बदन में आ लिपटा है।

बहुत बड़ी राहत मिली है।

एक तरफ से राहत मिली है तो दूसरी तरफ का सहारा छूट गया है। देवी जी मुझे चारपाई पर बिठाकर अन्दर जाने लगी हैं—

तो मैं कहता हूँ—"जरा उसे दे जाना तो..."

वे—"किसे ?"

मैं—"उसी कापी को, जिसे अभी लिख रहा था...."

वे—"अब तो तुम्हें आराम करना ही पड़ेगा...."

मैं—"कुछ लिखूँगा नहीं—केवल पढ़कर देखूँगा कि क्या लिख मारा है ?"

कुछ न बोलकर वे अन्दर चली जाती हैं।

धूप से लिपट कर मैं अँगड़ाई लेने लगता हूँ। सर का कण्टोप और बदन पर की चादर उतार कर नीचे रख देता हूँ। धूप की गर्मी के आगे इस रूई-रोयें की गर्मी अच्छी नहीं लगती।

मेरे दरवाजे के सामने ही पक्की सड़क है, जिसकी छाती पर कुछ-कम एक हजार घाव हैं—तो इस सड़क के उस पार एक छोटा-सा कच्चा मकान है। छाजन खपरैल का है और दरवाजे बाँस के बने हैं।

इस बाँस के दरवाजे के अन्दर दो जवानों का एक छोटा-सा परिवार रहता है—एक है युवक, जो गरीबी के दिन मजदूरी करके काटा करता है—और दूसरी है उसकी युवती पत्नी, जो पति की कमाई पर रोज-रोज नये शृंगार किया करती है—गोरी-गोरी-सी है, कद लम्बा है, हृष्ट-पुष्ट भी है परन्तु उसे मुटापा नहीं कह सकते। सौन्दर्य में वैकल्य एवं जवानी में एक आकर्षण भरे इस युवती को मैं अक्सर देखा करता हूँ—जी चाहता है देखता ही रहूँ और आँखों की पलकें कभी ढँपे ही नहीं।

आप ही कहें—क्या देखना भी पाप है?

मैं भी बड़ा ही विचित्र व्यक्ति हूँ। ऐसे आदमी आपने बहुत कम देखे होंगे, जो देखें परन्तु दिल में दर्द न पालें—जो नजरें लड़ायें परन्तु चोट न लगे—जो तीर खायें मगर घाव न हो।

मैं ऐसा ही हूँ।

आज भी चारपाई पर बैठे-बैठे उसी ओर देख रहा हूँ। दरवाजे पर पीली धोती पड़ी है, जो एक पंथ दो काज साध रही है—सूख भी रही है और परदे का काम भी कर रही है।

और उस आकर्षक परदे के एक किनारे पर एक सलोना चेहरा बाहर निकला हुआ है मस्तक पर बड़ी-सी टिकली चमक रही है। मुँह पर घूँघट भी है परन्तु मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि मदभरी दो दाहक आँखें, एकटक, बिना पलक झपकाये मेरी ओर देख रही हैं—जैसे दो तीर चुभे जा रहे हैं, रातभर तक बुखार से तपे हुए मेरे कलेजे में।

फिर भी मैं चुपचाप बैठा हूँ। न जरा भी हिला हूँ, न एकाध

ठण्ढी साँसें ही ली हैं। मजा तो तभी है, जब चोट खाये और 'सी' न करे, जब तीर घुसे और हँसता रहे।

उसका नाम भी बता दूँ आप से।

पूछिये मत! बड़ा प्यारा नाम है—इतना प्यारा कि यदि नाम का भी कोई आकार होता तो कलेजे से लगा लेने के काबिल होता।

तो उसका नाम है 'पियारी'—प्यारा का स्त्रीलिङ्ग!

भला ऐसे मादक नाम वालों को कौन नहीं चाहेगा? चाहे उनमें सौन्दर्य हो या न हो परन्तु उनका नाम ही सुनकर एक बार आप फड़क-तड़प उठेंगे।

एक बात और है।

इन परदे के पीछे रहनेवालियों के नाम में चाहे चाँद जैसा आकर्षण हो परन्तु सूरत इनकी दिलफरेब ज्यादा नहीं हुआ करती। हुस्न की दिलफरेबी ही हो तो परदे की क्या जरूरत?

मगर अपनी 'पियारी' ऐसी नहीं हैं। उसके नाम में तो आकर्षण है ही, साथ ही उस परदे के पीछे उसका मादक सौन्दर्य भी है, छलकती जवानी भी है।

मेरे अपने विचार से यह परदा नारियों के लिये जरूरी है। औरतों में इतनी बदसूरती होती है कि बगैर परदे के उनका नग्न सौन्दर्य देखकर आप कभी 'दिलफेंक' नहीं बन सकते।

इसीलिये, अपने सौन्दर्य की कमजोरी को छिपाने के लिये नारी को बाह्य उपकरण, शृंगार आदि की आवश्यकता पड़ती है। ऐसा न हो—यानी अगर हम किसी नारी को प्राकृतिक रूप में एकदम नग्न देख लें तो हम उसे चाह नहीं सकते, सिवाय अपनी माता के।

हाँ! तो मैं एकटक उस परदे की रानी को देख रहा हूँ और वह भी उसी तरह निश्चल है। दोनों ओर के दो प्राणी आँखों-आँखों में जाने क्या बातें कर रहे हैं।

मगर मैं इन आँखों की भाषा कभी समझ नहीं सका—यही मुझमें एक बड़ा अभाव है। मैं जानता ही नहीं कि ये बेजान आँखें कैसे बोल लेती हैं।

फिर भी लोग ऐसा ही कहते हैं।

शायद 'पियारी' की आँखें भी कुछ बोल रही हों मगर बिना कुछ जाने-समझे मैं कौन-सा उत्तर दूँ। मेरी आँखें तो कभी बोलती नहीं या मैंने उन्हें कभी बोलते सुना नहीं—ये तो केवल देखना भर जानती हैं, पलकों में शून्य भरे, न कोई भाव, न अभिव्यक्ति!

और वह मेरी ओर देखती ही जा रही है—अब तक देख रही है। नाजुक कलाई उठाकर उसने मस्तक पर का घूँघट जरा-सा और ऊपर खिसका दिया है, जिससे चार अंगुल तक सिन्दूर से भरी हुई लाल माँग दिखाई पड़ने लगी है। कलाई की हरकत से मासूम चूड़ियाँ चीख उठी हैं और उनकी झनझनाहट सड़क पार करके यहाँ तक चली आई है।

उफ! यह मैं क्या देख रहा हूँ?

उसने अपनी जीभ निकालकर, अपने पतले-लाल होठों पर फेरा है—उन्हें चाटा है।

जाने कौन इशारा है यह? मैं तो कभी इशारों की बात समझ नहीं सका—फिर आज ही कैसे समझूँ?

कोई जबान से कुछ कहे तो मेरे सचेष्ट कान सुन भी सकें—परन्तु सुना करता हूँ कि औरतों की आँखें और इशारेबाजियाँ जितनी कातिल होती हैं, उतनी ही उनकी जबान मूक होती है। वे बोलती कम हैं–खास कर अतृप्त आकांक्षा की बातें तो वे कभी कहती ही नहीं।

मगर वह इशारा क्या था?

क्यों था वह इशारा? मैं स्वयं अपनी अस्वस्थता में ही सीमित हूँ इस समय, फिर यह तीर की चोट क्यों?

क्या उसकी कोई इच्छा है? क्या वह कुछ चाहती है मुझसे?

मगर चाहती क्या है?

पति उसका हट्टा-कट्टा है—देखने में भी बुरा नहीं। फिर यह लालसा क्यों? क्या गरीबी और अशिक्षा में पली हुई नारी योंही वासना का खेल खेलने की अभिलाषिनी रहती है?

मैं उसकी ओर से आँखें फेर लेता हूँ। हृदय में एक स्पष्ट घृणा की छाया झलक उठती है। इन नारियों में मैं शालीनता एवं सौम्यता देखने का इच्छुक हूँ। चरित्रहीनता के मामले में मैं उन्हें आगे पग उठाते हुए देखता हूँ तो दिल 'हाय-हाय' करने लगता है अपने-आप।

यह देवीजी आ रही हैं, हाथ में मेरे उपन्यास की हस्त-लिपि लिये।

"बड़ी देर कर दी तुमने?"—कहता हूँ मैं।

वे—"खोजने लगी तो मिलती ही न थी—मिली भी तो आलोक चिल्ला पड़ा—"

मैं—"क्यों?"

वे—"पैर पर सील गिरा ली थी..."

मैं खीझकर कहता हूँ–"सील-लोढ़े से क्या पीस रहा था बेईमान?..."

तेज स्वर सुनकर वे चौंक पड़ती हैं और विनती करके कहती हैं—"इतने जोर से मत बोलो—रात भर तो बेहोश रहे हो...."

मैं शान्त हो जाता हूँ—शान्त होना ही पड़ता है। देवीजी का अनुरोध मुझसे टाले नहीं टलता, चाहे और सभी कुछ टाल दूँ।

वे—"चाय पियोगे?" पूछती हैं।

"चाय?"

मैं विस्मत होकर कहता हूँ!

चाय का पीना मैंने तब से बन्द कर रखा है, जब से पैसे ने

मेरा साथ छोड़ दिया। दूध, चीनी, चाय वगैरह का फालतू खर्च कौन बरदाश्त करे और इतने पैसे आवें कहाँ से? दूध-चीनी के अतिरिक्त आमलेट या बिस्कुट भी तो चाहिये।

पहले का जमाना भी क्या था?

दिन में दस बीस बार चाय की चुस्कियाँ लेता था मगर आज? आज तो इकन्नी का एक कप भी मुहाल हो चला है। आमलेट और बिस्कुट की तो बात ही अलग। जब से घर-गृहस्थी के 'हर की मुठिया' हाथ में पकड़ी, तब से 'अवित्त-कवित्त' सभी भूल गये।

गुजरे दिनों की बात याद आती है तो कलेजा मुँह तक आकर लौट जाता है।

मैं पूछता हूँ देवीजी से—"चीनी-चाय का प्रबन्ध कर लिया है तुमने?"

वे—"हाँ!....कल हरीप्रसाद से पचीस रुपये उधार लिये थे न?" उत्तर देती हैं।

"........"

मैं चुप रह जाता हूँ।

कैसे कहूँ कि उन्होंने मेरे सारे आत्म-सम्मान पर समुद्र का खारा पानी फेर दिया है? मैं कभी किसी के आगे झुका नहीं। भूखा रहा मगर हाथ न फैलाया—अन्तर में आग लगी रही मगर चेहरा सदैव दूसरों के सामने हँसता रहा।

इस भावना का मूल्य देवीजी क्या समझें?

कहूँ, तो कहेंगी कि स्वयं तो कुछ करने में असमर्थ हूँ, फिर दूसरों की सहायता लेने में हर्ज ही क्या?

"पियोगे?" प्रश्न होता है।

"नहीं!...." कहता हूँ मैं। दिल को थाम रहा हूँ कि घृणा

का अम्बार न उठे मगर तूफान की गति के आगे टूटे पेड़ की क्या हस्ती ?

"पी लो थोड़ी-सी, एक ही कप सही..."

"नहीं...सोचता हूँ, छूटी हुई आदत को फिर क्यों मुँह लगाऊँ...हरीप्रसाद के रुपये कोई जन्म भर तो चलेंगे नहीं....नहीं, रहने दो...."

मैं इस तरह गम्भीर हो जाता हूँ कि देवीजी आगे कुछ बोल नहीं सकतीं।

तभी आ पहुँचा है हरीप्रसाद—मुँह पर एक विचित्र मुस्कराहट लिये।

आज की उसकी मुस्कराहट देखकर न जाने क्यों दिल जल उठा है ? ऐसी भेदभरी मुस्कराहट तो वह कभी नहीं हँसता था।

देवीजी खड़ी रह गई हैं। पहले तो वे उससे परदा किया करती थीं परन्तु पचीस रुपये उधार देनेवाले से अब परदा कैसा ?

हरीप्रसाद आकर चारपाई पर बैठ गया है। पूछता है—"कहो भाई ! कैसे हो ?"

मैं—"अच्छा ही हूँ...."

वह—"सुना, कल तुम्हारी तबियत ज्यादा खराब हो गई थी..."

मैं—"हाँ !....मगर कोई ऐसी बात नहीं थी—"

वह—"तुम भी कितने विचित्र हो—भाभी न बतातीं तो मुझे तुम्हारी स्थिति का पता ही न चलता—इस तरह गुमसुम रहना अच्छा नहीं—समझे ! तुम्हारे नजदीक रहता हूँ, तुम्हारा मित्र भी हूँ, फिर हमारे बीच दुराव नहीं होना चाहिये...."

यों तो इस धोखेबाज दुनिया में मैं किसी को अपना मित्र नहीं समझता, फिर भी जब हरीप्रसाद अपने मुख से मुझे मित्र कह रहा है और लड़कपन में दो साल तक साथ-साथ पढ़ा भी है तो उसे मित्र मान लेने में हर्ज ही क्या है ?

मगर....

मगर मुझसे सात-आठ साल का छोटा यह छोकरा, हरीप्रसाद इस तरह देवीजी की ओर आगभरी आँखों से क्यों देख रहा है—एकटक !

उसकी आँखों के पीछे छिपी हुई विनाश की भावना मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। आफत की मारी हुई, गरीबी एवं अभाव की तड़पन में दिन गुजारनेवाली एक लेखक की पत्नी में उसे क्या आकर्षण मिल रहा है—कुछ समझ में नहीं आता ? पाँच-पाँच बच्चों की माता प्रजनन की मशीन बन सकती है, परन्तु किसी के आकर्षण का केन्द्र नहीं।

परन्तु यह हरीप्रसाद ?

क्या कहूँ इसे—पचीस रुपये उधार देकर हमारी तो जबान बन्द कर दी है इसने।

"देखो भाई !"—कहता है वह—"जब कभी जरूरत पड़े तो निसंकोच माँग लिया करो—न हो तो तुम्हीं चली आया करो भाभी ! ये तो आने से रहे...."

कह कर वह निशाचर उठ खड़ा हुआ है और जाने की भंगिमा में 'अटेंशन' हो गया है। नमस्कार करता है। मैं भी हाथ उठा देता हूँ।

और वह एक भेदक दृष्टि देवीजी की ओर फेंकता हुआ 'स्लो मार्च' करता चला जाता है।

मैं देवीजी की ओर देखता हूँ, जो पैशाचिक भावना मैंने हरीप्रसाद की नजरों में देखी थी, उसकी कोई भी छाया उनकी आँखों में नहीं है।

वे पहले की तरह ही निर्द्वन्द हैं। शायद हरीप्रसाद की वह दृष्टि उन्होंने देखी नहीं—या देखी भी हो तो एक कुत्ते की भावना समझ कर उसे उपेक्षणीय कर दिया हो।

"देखो !..." मैं बातचीत का सिलसिला शुरू करके कुछ कहना चाहता हूँ।

वे—"कहो"—उत्सुक हो पड़ती हैं।

मैं—"तुम अब कभी हरीप्रसाद के यहाँ मत जाना...."

वे—"कभी नहीं !...इस बार जो चली गई, उसके लिये क्षमा चाहती हूँ—रुपये पाते ही उसे दे आना..."

उसी समय रोता हुआ आ पहुँचता है आलोक।

तोतली बोली में, एक-एक बात पर 'ब्रेक' देता हुआ कहता है— "अम्मा ! त्रिलोक....साले ने....मुझे मारा है...."

लीजिये !

दो अंगुल के बच्चे भी कैसी अनोखी गालियाँ बकने लगे हैं कि सुनकर आश्चर्य करना पड़ता है। कोई भला आदमी सुने तो क्या कहे ? इतने बड़े लेखक के बच्चे और इतनी भद्दी गालियाँ बकें ?

मगर चारा ही क्या है ? आस-पास के लड़के इतने बेईमान हैं कि पूछिये मत—और संगत का असर मासूम बच्चों पर बिना पड़े रहता नहीं—इसीलिये ये बच्चे इतनी गालियाँ सीख गये हैं।

देवीजी कहाँ तक सबको देखती फिरें ?

और मैं हूँ कि दुनियादारी से एकदम अलग ! गृहस्थ-योगी समझिये मुझे। लेखनी की साधना में मैं सब कुछ भूल गया हूँ।

इस समय मुझे ग्लानि हो रही है—छोटे आलोक के निर्दोष मुख से दोषपूर्ण वाक्य सुनकर।

मैं पिता हूँ—इन लड़कों को, जो आगे चलकर प्रगतिशील बनेंगे, मुझे ही तो देखना-भालना है।

मगर सोचता हूँ कि ये बच्चे अपनी प्रेरणा से ही प्रगतिशील बन सकेंगे—पिता के संरक्षण की क्या आवश्यकता है इन्हें ?

यह सब झंझट सर पर मोल ले लूँ तो लिखना-पढ़ना भाड़

में चला जाय और ये बच्चे भी भूख के मारे दो-चार दिन में ही टें बोल दें।

चलने दीजिये जैसे चल रहा है। बड़े होकर अपने ही सुधरेंगे सब। मेरा कुछ न कुछ अंश तो जरूर होगा इनमें ?

देवीजी ने आलोक को गोद में उठा लिया है और उसे चुप कराती हुई अन्दर जा रही हैं।

जमीन और आस्मान की सन्धि पर डूबता सूरज अधखुली आँखों से दीपक और पपिहरा को देख रहा था। दीपक बैठा था तालाब की ऊँची-नीची सीढ़ियों पर और पपिहरा बैठी थी दीपक की बगल में। जवानी के आलम ने शर्म पर विजय पा ली थी। दोनों घुलमिल गये थे थोड़े ही परिचय में।

"अच्छा जी, तुम शहर में रहते हो न ?"—मदभरी आँखें एक क्षण के लिये दीपक के नेत्रों में डालकर पूछा पपिहरा ने।

"हाँ !..."

"भला क्या करते हो तुम वहाँ ?"

"पढ़ता हूँ—" दीपक ने उत्तर दिय।

"क्या पढ़ते हो ? किस्से—कहानियाँ ?"

"नहीं ! मैं यूनिवर्सिटी में पढ़ता हूँ..."

"जाने क्या कहते हो तुम ?"—बोली पपिहरा—"कैलास भैया भी जब से शहर में पढ़ने लगे, तब से ऐसी ही अलबी-तलबी बोलते हैं कि दैया रे कुछ समझ में नहीं आता ?"

"तुम उसे नहीं समझ सकतीं पपिहरा ?"

"अच्छा जी रहने भी दो—समझ क्यों नहीं सकती...तुम

शहर में पढ़ते हो, क्या इतना भी मैं नहीं समझ सकती ? मगर यह तो बताओ कि अब तक तो तुम शहर में पढ़ते रहे थे, फिर गाँव में आकर यह पढ़ाना कब से सीख लिया ?"

"कैसा पढ़ाना ?"

"खुदा कसम, क्या तुमने मुझे मुहब्बत का सबक नहीं पढ़ाया ?" कहती-कहती पपिहरा ने शर्म में डूबकर दोनों हथेलियों से अपना चेहरा बन्द कर लिया।

दीपक ने धीरे से पपिहरा की हथेलियाँ उसके चेहरे परसे हटा दीं। गोरा-सा गुलाब शर्म की आँच खाकर तपे लोहे जैसा लाल हो रहा था। देखकर दीपक के हृदय में लहराता हुआ प्रेम एकबारगी ही सचेत हो उठा।

उसने पपिहरा की छोटी-सी मुट्ठी ऊपर उठाई। फिर धीरे से पूछा—"तुम जानती हो पपिहरा !...."

"क्या ?"

"यही कि मुहब्बत किसे कहते हैं ? प्यार कैसा होता है ?"

"जानती तो नहीं थी, मगर तुम्हारे साथ ने मुझे बता दिया—"

"कैसे ?...."

"खुदा कसम ! पिछले कई दिनों से मैं हरवक्त बेकल रहती हूँ। खाना अच्छा नहीं लगता—कुछ भी अच्छा नहीं लगता....अच्छे लगते हो तो सिर्फ तुम, तुम्हारी सूरत, तुम्हारी बातें और... और...."

"और क्या ?"

"और तुम्हारा साथ !..." धीरे से कटाक्ष का तीर चला कर बोली वह—"हाय अल्ला, तुम तो जैसे कुछ समझते-जानते ही नहीं....अच्छा, अब मुझे छोड़ो—जाने दो....आज बड़ी जल्दी शाम हो गई..."

भोली पपिहरा क्या जाने कि मिलन की घड़ियाँ पर फटफटा

कर बड़ी जल्दी उड़ जाती हैं। दीपक की बगल में बैठी-बैठी वह समय का ज्ञान ही भूल गई थी।

"थोड़ी देर और बैठो न ?"

"नहीं जी ! अब मैं नहीं रुक सकती...रसूल भैया आ गये होंगे तो भभकने लगेंगे।"

"पपिहरा !"—दीपक ने पपिहरा को अपने पास खींचकर कहा—"जी चाहता है हमेशा तुम्हारे पास रहूँ, तुम्हारे बदन से लगा रहूँ...."

"अच्छा जी ! तुम हमारे बदन से लगे रहना चाहते हो ?"—शोख हँसी हँसकर बोली पपिहरा—"तो अब जल्दी से तुम कपड़े बन जाओ। फिर मैं तुम्हें सिलाकर सलवार या चोली बना लूँगी या ओढ़नी बनाकर सर पर डाल लूँगी—फिर लगे रहना मजे में मेरे बदन से—"

दीपक हँस पड़ा। बोला—"अच्छा, जाओ तुम...."

पपिहरा उठ खड़ी हुई। दोनों के नेत्र मिले, आग लगी, लपटें उठीं और दोनों के हृदय धड़कने लगे।

दीपक ने एक बार पुनः पपिहरा को अपने हाथों में बाँध लिया और एक जलता चुम्बन उसके अधरों पर छोड़कर अलग हो गया।

"यह क्या किया तुमने ?"—अपना होंठ सहलाती हुई पपिहरा बोली।

"चोट लग गई क्या ?"

"और क्या ? चोट लगी और दर्द कलेजे तक उतर गया.... तुम बड़े बेदर्द हो जी ! लो, मैं चली...."

"अब कब भेंट होगी ?"

"खुदा जाने !"

"तब तो मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा...."

"पकड़ के रक्खोगे क्या ?"

"हाँ !"

"पकड़ो तो जानें ?"

कहकर पपिहरा भागने लगी परन्तु भाग न सकी। दीपक ने उसे दौड़कर पकड़ लिला और उसे इस तरह से अपने बदन से बाँध लिया कि वह बन्धन पपिहरा के मासूम बदन पर कोड़े की मार जैसा कसक उठा।

"बोलो, कब मिलोगी ?" दीपक ने पूछा।

"नहीं बताती...."

"नहीं ?"

"नहीं !...." पपिहरा ने इनकार किया।

सुनकर दीपक ने अपना बन्धन फौलाद-सा बना लिया। पपिहरा की आँखों से दो बूँदें ढुलक पड़ीं। पता नहीं वे कैसे आँसू थे। बोली शर्माते-शर्माते—"आज रसूल भैया दूसरे गाँव में गये हैं। कल सुबह तक लौटेंगे...."

"तो ?...."

"रात में खा-पीकर आ जाना...."

"इन्तजार करोगी न ?...."

"हाँ !...." पपिहरा ने इतने धीरे से कहा कि उसे दीपक के ही कान सुन सके।

"जाओ !" दीपक ने उसे छोड़ दिया।

"पपिहरा उस पर एक शर्मीली नजर डालती हुई धीरे-धीरे चली गई।

रास्ते में मिल गया खलील, पपिहरा के बचपन का साथी। उसे देखकर आगे आ खड़ा हुआ।

"हट !...." पपिहरा बोली।

"ऐ है ! नवाब की पोती की शान तो जरी देखो"—बोला

खलील—"सुभानअल्लाह ! जवानी क्या आई, रोयें-रोयें में पर लग गये। जानेमन के पाँव अब जमीन से एक बालिश्त ऊपर होकर चलते हैं...."

"अरे सुन खलील !"

"क्या है ?...."

"तू तो बरगद के पेड़ की तरह इतना चौड़ा हो गया कि खुदा कसम देखो सारा रास्ता छेंक लिया है....तेरी मुर्गियाँ आज कल अंडे ज्यादा देने लगीं हैं क्या ?..." बोली पपिहरा मुस्कुराकर।

"चाहिये क्या दो-चार अंडे—" खलील ने कहा—"या कह तो डंडे ही दे दूँ दो-एक ?"

"रख अपने अंडे-डंडे अपने ही पास, मुझे नहीं चाहिए...."

"अब तो क्यों चाहने लगी तू ?....बचपन के दिन तो गुजर गये न ! अब तो छोटी-सी देह पर जवानी की मेहरबानी हो गई है—धूल की गोद के बदले फूलों का बिस्तर चाहिये तुझे...."

"किसी की जवानी देखकर तेरी आँखें क्यों फूटती हैं ?...."

"अरी बुलबुल ! मेरी आँखें क्यों फूटेंगी ? अल्लाह के फज्जल से क्या मुझपर कम जवानी आई है ?....यह देख !"

कहकर खलील ने अपना सीना झुकाया और दोनों हाथों को बाँए-दाँयें झटकारा।

"बस-बस रहने दे—"पपिहरा बिगड़कर बोली—"ज्यादा डंड-बैठकी मत दिखा। हट रास्ते में से, नहीं तो कह दूँगी रसूल भैया से..."

"अरे वाह री रसूल भैया की पपिहरा बहन !—" खलील ने उसे चिढ़ाया—"कम्बख्त बोलती ऐसे है जैसे रसूल भैया सिर्फ इसी के बाप के बेटे हों और मेरे कोई नहीं....चल, मैं भी रसूल भैया से कहता हूँ कि...तू....तू...."

"क्या तू-तू कर रहा है ?...."

"कह दूँगा कि तू तालाब के किनारे...."

"क्या ?...." चौंककर बोली पपिहरा—"तालाब के किनारे क्या ?"

"बस समझ जा !....मैं सब जानता हूँ...." खलील अँधेरे में तीर छोड़ रहा था कि शायद किसी निशाने पर जाकर लग ही जाय।

और पपिहरा ने समझ लिया कि खलील ने उसे दीपक के साथ तालाब पर देख लिया है। उसका कलेजा एक क्षण के लिये भय से कम्पित हो उठा।

"खलील !...." पुकारा पपिहरा ने दबी आवाज में।

"..." बोला नहीं खलील, बल्कि और तनकर खड़ा हो गया। मुँह अपना उत्तर से पूरब की ओर कर लिया उसने।

"खलील भाई !...."

"अब आई रास्ते पर....बोल क्या कहती है ?"

"तुमने सब कुछ देख लिया ?"

"हाँ ! ज़र्रा-ज़र्रा....रत्ती-रत्ती..."

"मैं तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ..."

"जोड़ !...."

"लो...." पपिहरा ने हाथ जोड़ दिया।

"पैर भी पकड़..."

"अरे चल !" पपिहरा फिर बिगड़ पड़ी—"पैर तो हर्गिज़ नहीं पकड़ती..."

"तो मैं चला रसूल भैया से कहने..."

"अच्छा लो...." पपिहरा ने झुककर जल्दी से उसका पैर छू लिया।

"ठीक-ठीक ! अब नहीं कहूँगा....अच्छा, चल तुझे घर तक पहुँचा दूँ"

दोनों साथ-साथ चलने लगे।

"पिछड़ती क्यों जा रही है–" बोला खलील।

"तेरी तरह ताड़ जैसे पैर तो हैं नहीं....कौन कहे तू अपनी पीठ पर लाद कर ले चलेगा मुझे..."

"कम्बख्त बचपन के दिनों की याद दिला रही है....अच्छा आ, चढ़ पीठ पर..." खलील झुक गया।

पपिहरा उसकी पीठ पर बन्दर की तरह उछलकर जा चढ़ी।

"इतनी जोर से उछली क्यों, बोल !....घोड़े की पीठ समझ ली है क्या ?"—खलील ने हाथ पीछे ले जाकर पपिहरा का सर ठोंक दिया।

"देख, मारेगा तो तेरी पीठ में दाँत काट लूँगी..." बोली पपिहरा।

"अरे बाप रे, शैतान बचपन की एक आदत नहीं भूली है अब तक"—कहकर खलील ले चला उसे पीठ पर लादे हुए।

रास्ते में गाँव वाले देखते और चुपचाप चले जाते। उनके लिये यह कोई नवीन घटना नहीं थी।

बसीदा दादी के दरवाजे पर जाकर खलील ने पुकारा—दादी ! ओ बसीदा दादी !..."

बुढ़िया अन्दर से ही बोली—"कौन है मुआ !...."

"मरें तुम्हारे बाप बसीदा दादी !—" बोला खलील–"जरा बाहर आकर देखो—रसूल भैया ने एक बोरा चावल तुम्हारे लिये भेज दिया है।"

"चावल !"—आश्चर्य करती हुई बुढ़िया बाहर निकली तो खलील की पीठ पर बोरे की तरह लदी हुई पपिहरा को देखा।

"लो सम्हालो दादी, अपना बोरा—" कहकर खलील ने पपिहरा को बोरे की तरह बुढ़िया के आगे पटक दिया और हँसता हुआ भाग गया।

जमीन पर से उठती हुई पपिहरा, बैठ कर हाय-हाय करने लगी।

"क्या हुआ रे छोरी ?..."

"कमर टूट गयी दादी...."

"हाय रे, एक ही धक्के से जब तेरी कमर टूटने लगी तो जिन्दगी कैसे गुजरेगी हरामी ?"

"मैं क्या करूँ दादी ! देखा नहीं उस पिल्ले को कितनी जोर से पटक कर भागा है..."

"कमर की कसरत किया कर रे आज से—समझी ?..." बुढ़िया बोली ।

"चलो-हटो दादी ! बड़ी वैसी हो !" कहकर पपिहरा धीरे-धीरे चलती हुई अपनी झोंपड़ी में आई ।

सीधे चारपाई पर जा लेटी वह । आज वह अकेली थी । रसूल मेहमानी गया हुआ था । सोचने लगी पपिहरा—काली-काली भयावनी रात, झोंपड़ी की काटखाने वाली दीवारें, भौंकते हुए कुत्ते और खटोले पर पड़ी हुई, आँखों में नींद की खुमारी और दिल में लाख-लाख डर लिये वह कैसे सारी रात काट सकेगी ?

क्यों न वह बसीदा दादी को अपने पास सुलाये ? मगर उसकी दादी का गला, बुढ़ापे की कमजोरी पाकर खाँसी का इस तरह शिकार बन गया है कि रात भर खों-खों करती रहेगी वह, तो नींद कैसे आ सकेगी पपिहरा को ?

तो....

दीपक !....दीपक भी तो आने को कह गया है ? क्या वह सचमुच आयेगा ?

आयेगा, तो इस अँधेरे में कहाँ बैठेगा ? झोंपड़ी में दीपक तो है, परन्तु उसके पेट में जरा भी तेल नहीं रह गया है, तो पपिहरा जलाये क्या, उजाला क्या करे—खाक !

पपिहरा खटोले पर पड़ी रही। सोचती रही। दोपहर की रोटियाँ रक्खी थीं, परन्तु कुछ खाने को जी नहीं चाहा उसका।

बाहर का अँधेरा धीरे-धीरे घना हो चला। आसमान पर दो-चार सितारे निकल आये। चाँद तो आज रातभर तक मातम मनायेगा—अमावस्या है न!

बड़ी देर बीती। पपिहरा दीपक के ही विषय में सोचती जा रही थी। दीपक ने उसे इन दो-तीन दिनों में जो कुछ दिया था, वह उसे कोई भी नहीं दे सका था। दीपक के दो मादक चुम्बनों ने जैसे उसके यौवन का रेशा-रेशा सजग कर दिया था!

"पपिहरा!"—किसी ने दरवाजे के बाहर से धीरे से पुकारा।

तो वह इस तरह चौंक पड़ी कि कलेजा धड़कने लगा। धीरे से खटोले पर से उतर कर खड़ी हो गई वह।

बोली—"आओ न!...."

दीपक था वह। अन्दर आकर बोला—"अँधेरा क्यों कर रक्खा है?"

"ताकि तुम्हें देख न सकूँ?...." बोली पपिहरा।

"क्यों?"

"शर्म लगती है जो...."

"कहाँ हो तुम? किधर हो—ज़रा मेरा हाथ तो पकड़ो...." दीपक को कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा था।

पपिहरा ने उसका हाथ पकड़ कर खटोले पर ला बिठाया। दीपक ने उसे खींचकर अपने बगल में बैठा लिया।

"यह अँधेरा देख रही हो पपिहरा?...."

"बड़ा अच्छा लग रहा है...." बोली वह। उसके शरीर का सारा बोझ दीपक की गोद में आ रहा।

"अकेली हो?"

"हाँ!"

"और दिया ?"

"तेल नहीं है...."

"अँधेरे में बैठना क्या ठीक होगा ?" दीपक ने पूछा।

"आज तो रात भर तक तुम्हें यहीं रहना है—" वह थी।

"क्यों ?"

"मुझे डर लगेगा...."

"और..."

"कलेजा धड़केगा—"

"और...."

"दिल तड़पेगा—"

"और...."

"अच्छा जी ! तुम्हारा यह और-और तो खुदा कसम ताड़ की तरह बढ़ता चला जा रहा है...बोलो, रहोगे रात भर या नहीं ?...."

"रहूँगा—"

"मुझे सोती छोड़कर भाग तो नहीं जाओगे ?"

"नहीं !"

"तो सो जाओ इसी खटोले पर—" बोली वह।

"और तुम ?"

"मैं नीचे बोरा बिछाकर सो जाऊँगी।"

"तब तो मैं चला कैलाश की हवेली को—"

"अरे क्यों ?"

"मेरी तुमसे नहीं निभेगी"—बोला दीपक—"मुझे रोकना हो तो आकर तुम भी इसी खटोले पर लेटो...."

"अच्छा जी ? इस अँधेरे में साँप के साथ कौन लेटेगा ? कहीं डँस लो, तो दिल की धड़कन ही बन्द हो जाय....'

दीपक कुछ बोला नहीं। वह कुछ सोचने लगा था। पपिहरा भी कुछ सोचने लगी।

रात की बेला, पास-पास बैठे हुए दो शरीर और उनमें लहराती हुई जवानी की मादक मदिरा।

बेचैन हो रहे थे दोनों।

"पपिहरा !..." उसका हाथ पकड़कर बोला दीपक।

"क्या है ?"—उसका स्वर जाने क्यों काँपने-सा लगा था।

"दिया जला दो...."

"तेल नहीं है..."

'बिना तेल के क्या दिया नहीं जल सकेगा ?"

"नहीं !...."

"मगर इस अँधेरे में तो हम-तुम जल जायँगे पपिहरा !..." दीपक के हाथ पपिहरा के मदहोश शरीर को अधिकाधिक कसते जा रहे थे।

"जल जाने दो"—पपिहरा जैसे बेहोश-सी हो रही थी।

"पपिहरा ! मुझे जाने दो...जाने दो मुझे पपिहरा !..." कुछ सजग-सा होता हुआ बोला दीपक।

"नहीं !..." और अब पपिहरा के कोमल हाथों ने उसके बदन को बाँधना प्रारम्भ कर दिया।

"मुझे छोड़ो पपिहरा !....हम-तुम दोनों बहे जा रहे हैं..."

"बह चलने दो...."

"कहीं किनारा नहीं मिलेगा....!"

"परवाह नहीं...खुदा कसम ! तुम बड़े बेदर्द हो....छोड़ के चल दोगे मुझे अकेली ?...."

दीपक बेचैन हो रहा था और पपिहरा मदहोश। दीपक भविष्य देख रहा था और पपिहरा तो जैसे वर्तमान को भी भूल बैठी थी।

"पपिहरा !...."

"बोलो !"—

"पपिहरा !"

"बोलो न !...."

इस बार दीपक चुप रह गया। उफ ! यह क्या होने जा रहा है। दिन के उजाले में जो कुछ बाकी था, क्या वह रात के अंधकार में होकर ही रहेगा ?

"पपिहरा ?...."

"बोलो भी कुछ !...."

"जलोगी तुम ?"

"हाँ !...."

"डूबोगी तुम ?"

"तुम्हारे साथ !"

"होश में आओ"—

"बेहोशी ही भली है"—

"बरबादी का रास्ता है यह !"

"मंजूर !...." कहकर पपिहरा सिसकने लगी। मदहोशी का वेग आँखों से आँसू की बूँद बन चू पड़ा।

दीपक ने उसे अपने सीने से चिपका लिया। चुम्बनों की मार खाकर आँखें तो सिसकती ही रहीं मगर गाल गुलाब की तरह हँस पड़े।

'बह चलो पपिहरा !...डूबो !....जलो !....मैं तुम्हारे साथ हूँ....ऐसा ही हो...." दीपक अस्त-व्यस्त स्वर में बोला !

उसी समय आसमान पर से दो तारिकायें साथ टूटीं।

तारिकाओं का टूटना ! उफ ! काठ की यह छोटी-सी कलम भी क्या है कि आसमान के तारे तोड़ लाती है, हिमालय को उठा कर आसमान पर पहुँचा दे सकती है। क्या नहीं कर सकती

लेखनी ! उड़ते हुए विक्षिप्त दिमाग का सहारा भी इसे खूब है। तभी तो घटना कहाँ से कहाँ पहुँच गई।

लीजिये अब तो दोपहर होने को आई। शिशिर का सूरज आसमान से धूप की सुधा बिखेर रहा है। आस-पास के लोग धूप में बैठकर अपने ठंडे रक्त और कमजोर नाड़ियों में गर्मी भरने का प्रयत्न कर रहे हैं।

एक नजर इधर-उधर देखकर मैं पुनः कागज पर दृष्टि डालता हूँ। बहुत काफी लिख चुका हूँ आज। अब तो थोड़ा आराम करना ही चाहिये। आराम तो सभी के लिये आवश्यक है। परन्तु ईश्वर की मर्जी, कि कोई तो थकान से मजबूर होकर आराम करना चाहता है और कोई आराम करते-करते तंग आकर थकावट महसूस करता है। जिसके पास धन है, वह आराम करते-करते थकता है और जिसके पास अभाव की चक्की है, वह काम करते-करते पिसता है।

"एक बात कहनी थी...." मीठी-धीमी आवाज सुनता हूँ।

सर ऊठाता हूँ तो देवीजी बगल में खड़ी हैं। बदन की मैली धोती में चार-चार पैबन्द ऊपर से ही दिखाई पड़ रहे हैं। गोरा रंग भूख की आग में झुलस कर कालिमा धारण कर चुका है। गाल छुहारे की शुष्कता को भी मात दे रहे हैं। होठों पर मुस्कान के बदले करुणा का मूक विलाप छाया हुआ है। मासूस कलाइयाँ सूख कर पेड़ की भयावनी टहनी बन गई हैं और उनमें पड़ी हुई काली चूड़ियाँ ऐसी लगती हैं जैसे कई-कई नागिनें लिपटी हुई हिल-डोल रही हों।

दैन्य का नग्न प्रदर्शन है। परन्तु मैं तो लेखक हूँ न, बालू में से तेल निकालनेवाला—सो दैन्य के आवरण में से सौंदर्य का आकर्षण खोज निकालना कौन-सी बड़ी बात है मेरे लिये।

सच ! देवीजी कितनी आकर्षणमयी हैं इसे कोई मेरी आँखों

से देखे। या तो फिर मेरे मित्र हरीप्रसाद से पूछ ले, जो जब कभी आता है तो देवीजी का सौंदर्य अपनी जलती आँखों द्वारा निगल जाना चाहता है।

लोग कहते हैं कि चक्की में पिसकर ही गेहूँ के दाने चमकदार मैदा बन जाते हैं, पत्थर पर घिसते ही हिना रंग लाने लगती है, कसौटी पर कसे जाने से ही सोना मूल्यवान बनता है। सच है, बिल्कुल सच! आज देवीजी भी गरीबी की चक्की में पिसकर मैदा जैसी चमकदार हो गई हैं कि हिना का रंग और सोने का मूल्य सब कुछ झख मारे।

"कहो—क्या कहती हो?" मैं कहता हूँ उनसे, क्योंकि मुझे देर तक चुप देखकर वे विकल होती जा रही हैं।

वे—"बुरा न मानना, इन बच्चों को भूख से मरते देखने की शक्ति मुझमें नहीं"—कहकर रुँआसी हो जाती हैं।

"ठीक कहती हो तुम!"—बोलता हूँ मैं धीरे से, नम्रता से—"तुम माँ हो न—और नारी भी। कोमल हृदय है तुम्हारा।(तुम जीवन दे सकती हो, पैदा कर सकती हो, पाल सकती हो—परन्तु किसी की मौत नहीं देख सकती। नारी इसीलिये तो महान है।—और पुरुष? महा-नीच! पातकी! मरे हुए को बेदर्दी से कन्धों पर उठाकर श्मशान ले जाता है, हाड़-माँस की देह को जला कर राख कर देता है, दस-बीस का खून करके रोज फाँसी पाता है.... धन्य हो तुम नारी! और तुफ है पुरुष की निर्ममता पर...."

थककर ही चुप होता हूँ मैं। देवीजी गौर से मेरा मुँह देख रही हैं। शायद सोच रही हैं कि किस जन्म के पाप से वे मुझ जैसे पागल के पाले पड़ीं।

मगर नहीं, वे ऐसा कभी नहीं सोच सकतीं, वे नारी हैं। सावित्री यदि देवी थी, तो ये देवी की सजीव प्रतिमा हैं। सावित्री यदि किसी विक्षिप्त लेखक के मस्तिष्क की प्रेरणा द्वारा प्रादुर्भूत

रमणी थी तो ये एक विक्षिप्त उपन्यासकार की छिन्न-भिन्न मानसिक शक्तियों को अपनी सेवा से प्रेरित करनेवाली साक्षात् महासरस्वती हैं।

सरस्वती !

मैं विकल हो उठता हूँ। आवेश में आकर उनका हाथ पकड़ लेता हूँ। बोलता हूँ—"सरस्वती ! देवी ! तुम मेरे लिये पूज्य हो। तुम्हारी सतत् आराधना में ही यह जीवन बीत जाय, यही वरदान दो मुझे....मुझे वरदान दो सरस्वती ! मेरी लेखनी की नोक पर से उड़कर तुम मेरी जिह्वा पर आ बैठो। मुझे वाचाल बनाओ। मेरी जबान में बोलने की ताकत दो। मैं भाषण दूँ और लोग स्तब्ध खड़े होकर मेरी वाणी सुनें, मैं नेता बनूँ और लोग मेरी पूजा करें। मैं स्पेशल ट्रेन, हवाई जहाजों में सफर करूँ और लोग चन्दों से, उपहारों से मेरी जेबें भरें। मैं बड़ा आदमी बन जाऊँ .... लिखने से बोलना आज के जमाने में अधिक लाभप्रद है। लेखनी ने मुझे एकान्तसेवी और पंगु बना दिया है—वाणी मुझे लोगों के बीच हीरे सा चमका देगी, मैं आसमान का चाँद बनकर खिलूँगा, मैं नेता बनूँगा, मिनिस्टर बनूँगा, शासक बनूँगा, शासक बनूँगा.... मुझे वरदान दो सरस्वती !..."

मैं बके जा रहा हूँ। देवीजी मेरे मुख पर अपना हाथ रख देती हैं। कहती हैं—"तुम चुप रहो। ज्यादा मत बोलो। तुम्हारा दिमाग आजकल ठीक नहीं है। मेरे और बच्चों पर दया करो। कुछ दिनों तक लिखना छोड़ दो—नहीं तो...नहीं तो..."

"नहीं तो क्या ?"

"तुम पागल हो जाओगे....मैं कहीं की न रहूँगी...ऐसा दण्ड न दो मुझे....दया करो सरस्वती के पुजारी !..."

"मैं पागल नहीं हूँ—पागल हो जाता तो कितना अच्छा

होता ! गम और आँसू से कोई वास्ता ही न रहता निर्द्वन्द्व ! निश्चिन्त ! मैं पागल ही बनना चाहता हूँ..."

मैं देख रहा हूँ, देवी जी की आँखों से आँसू की दो मोटी बूँदें गालों पर उतर आई हैं। वे मन ही मन रो रही हैं। कितनी दुखी हैं वे !

"रोओ देवी !...." कहता हूँ मैं—"खूब रोओ, तुम्हारे आँसू देखकर मुझे पागल होने में सहायता मिलेगी।"

लीजिये ! देवीजी ने झट मैला आँचल उठाकर आँखें पोंछ ली हैं, जैसे आँसुओं के बाहर आने की उन्हें कोई खबर ही नहीं थी। बूँदों का अस्तित्व मिट गया। बेचारियों को बाहर निकलने का भी अधिकार नहीं। स्वतंत्रता के लिये मचलने पर नामोनिशान ही गायब !

"ईश्वर के लिये सवाल का सीधा जवाब देना सीखो"—बड़े कष्ट से कहती हैं वे।

"सीखूँगा—पूछो सवाल !"

"मैं यह कहने आई थी कि बच्चे भूखों मर रहे हैं—"

"मैं देख रहा हूँ देवी !....अन्धे भी मन की आँखों से देखते हैं, फिर मुझे तो दो-दो आँखें हैं...मगर क्या करूँ, कुछ समझ में नहीं आता। जीवन बरबाद हो गया मेरा। लोग कहते हैं कि शराब का नशा बेहद खराब होता है। मैं कहता हूँ, यह लिखने का नशा तो और भी प्रलयंकर है—कोई मेरी तरह तबाह होकर देखे तो पता चले। मेरी आदत खराब हो गई। मजदूरी कर नहीं सकता—हाथों में मुश्किल से कलम पकड़ने भर की ताक़त बची है—और यह कलम इतनी बेजान है कि हमारा पेट भरना इसके लिये निहायत मुश्किल है। आजकल का कानून इतना ज़लील है कि न स्वयं मरने की इजाज़त और न दूसरों को मारने

का अधिकार—नहीं तो आत्महत्या मेरे लिये सुखकर होती और मैं सभी कष्टों से छुटकारा पा जाता...."

"हाय राम ! यह तुम फिर क्या कहने लगे ?...."

"लो, मैं चुप हो जाता हूँ—तुम्हीं कहो कुछ—मगर जो कुछ कहो, उसे साहित्यिक भाषा में। यह याद रखो कि हम लोग जो कुछ देखते-सुनते हैं, उसका उपयोग भी करते हैं...."

"मैं चाहती हूँ कि कुछ मेहनत-मजदूरी करके इन दुधमुंहे बच्चों का पेट स्वयं भरूँ...." वे हिचकती हुई-सी कहती हैं।

"कैसी मेहनत-मज़दूरी ?" पूछता हूँ मैं। लगता है, मेरा दिमाग खराब होता जा रहा है, देवीजी की बातों को सुनकर।

"यही, कुछ सिलाई वगैरह करके..."

मैंने सुन लिया है और सोच रहा हूँ। देवीजी मेहनत-मज़दूरी करेंगी, एक अंधे-लूले-लँगड़े की पत्नी की तरह—और मैं ?

मैं क्या सचमुच इतना अपाहिज हो गया हूँ ? पैसा ही आज-कल देवता है, और मैं पैसा पैदा करने के अयोग्य ! यही तो मेरी अपाहिजी है।

मेरे पास पैसा नहीं मगर कलम ने मुझे इज्जत तो दी है। लोग मेरा पेट नहीं भर सकते मगर मेरा आदर तो करते हैं। और यह प्रतिष्ठा ही तो मेरे लिये मौत है।

तो देवीजी मज़दूरी करेंगी और देखनेवाले मेरी प्रतिष्ठा पर थूकेंगे। मैं इस मौत का सामना किस प्रकार कर सकूँगा।

मैं बोला कुछ तेज़ स्वर में—"तुम मेरी पत्नी हो—तुम घर में पड़ी सिसक सकती हो मगर मेरी इज्ज़त को धूल में मिलाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं...."

"लोगों ने तुम्हें प्रतिष्ठा दी और तुम्हारा पेट भर गया"—वे कहती हैं—"मगर मुझे और बच्चों को क्या मिला, जिसे हम अपने खाली पेट में भरकर सन्तोष करें ?..."

"देवी !"—मैं ज़ोरों से चिल्ला पड़ता हूँ—"मैं कहता हूँ कि तुम मज़दूरी नहीं कर सकतीं....जाओ, अभी चली जाओ, मुझे अकेला छोड़ दो...."

बिजली की कड़क के आगे देवीजी की क्या हस्ती ? वे गीली आँखें लिये अन्दर चली जाती हैं। मेरा दिमाग परेशान हो उठता है। आँखें नीले आस्मान पर टिक कर शान्ति की खोज करने लगती हैं।

अहा ! कितनी पतंगें उड़ रही हैं—किस अदा से हवा पर तैर रही हैं कि पूछिये मत—जैसे बेला की पंखड़ियाँ छितराकर आस्मान पर जा चढ़ी हों।

बेला की पंखड़ियाँ और पतंगें !

कितने ही साल पीछे की याद ताजी हो गई है दिमाग में। बेला और पतंग ! जवानी के दिनों की एक अजीब कहानी।

सुनेंगे आप ? सुनिये न ! थोड़ा कष्ट ही सही।

उन दिनों मैं शादीशुदा नहीं था। जवानी क्या थी सोडावाटर की बोतल की तरह अपने अन्तर में उफ़ान छिपाये चुपचाप बैठी थी।

उन्हीं दिनों की कहानी है यह ! ज़रा साहित्यिक लहजे में सुनिये—

रास्ते की धूल, पैर की ठोकर खाकर सर पर आ गिरती है। कितनी निकृष्ट, कितनी हेय है वह ? जमीन पर लोटनेवालों को अगर आप आकाश पर चढ़ाना चाहें तो वे पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से खिंचकर पुनः जमीन पर आ लोटेंगे। उन्हें उन्नति की चाह नहीं, उनके समक्ष उत्थान का कोई महत्व नहीं।

और पतङ्ग !

पतङ्ग तो उँगलियों का सहारा तथा डोर का इशारा पाकर

ऊपर आकाश में उड़ जाती है। कितनी महानता और कितनी सौम्यता है उसमें ?

वह ऊँचे उठने की अभिलाषिनी है।

और उन्नति की चाह रखने वाले का रास्ता कभी रोक सका है कोई ?

उसका गतिरोध तो कोई कर ही नहीं सकता।

परन्तु ऊँचे उठने की अभिलाषिनी पतङ्ग मेरे लिए अछूत है—अस्पृश्य है। इसलिए नहीं कि मैं पतङ्ग से घृणा करता हूँ, वरन् इसलिए कि मेरी उँगलियों को उसे सहारा देना आता ही नहीं—किसी को ऊपर उठा सकने की शक्ति मुझमें है ही नहीं।

समझे आप ?

मैं पतङ्ग उड़ाना नहीं जानता।

मगर आज, नीले आसमान में सूर्य की चमक और उड़ती हुई कितनी ही लाल-पीली पतङ्गें देखकर मेरा हृदय डोल उठा है। सोचने लगा हूँ कि उड़ाना तो जानता नहीं, फिर भी प्रयत्न करना तो मानव का परम कर्त्तव्य है और कर्त्तव्य से च्युत होना ही सबसे बड़ा अभिशाप है।

सो क्यों न पतङ्ग उड़ा लूँ आज ?

नाचती हुई, इठलाती हुई ये पतङ्गें कितनी अच्छी लग रही हैं, मैं तो बेहाल-निहाल हो उठा हूँ इन्हें देखकर !

छत पर खड़ा हूँ। रोज ही खड़ा होता हूँ। जाड़े का मौसम गर्मी की चाह में तड़प रहा है। ठण्डे बदन का आलिङ्गन करके सूर्य की ऊष्ण रश्मियाँ आह्लाद से, हर्ष से उत्फुल्ल हो रही हैं।

मेरी छत की निचली छत पर पड़ोसी का लड़का मङ्गल छोटी-सी परेती पर डोर लगाये 'हत्था' भर रहा है। आकाश में उड़ती हुई पतङ्ग नीचे से एकदम मक्खी की तरह दिखाई पड़ रही है।

कितनी अच्छी कला है यह पतङ्ग उड़ाना भी ?

परन्तु ऐसी अच्छी कला में मैं अभी तक शून्य ही हूँ। ५ एक कला तो सभी को आती है—मुझे भी दवा देने, नाड़ी देखने और लिखने की कला आती है। यों तो उम्र के लिहाज से मैं बिल्कुल बच्चा हूँ—यही उन्नीस-बीस बसन्तों की दुनिया समझिये।

मगर एक कला से तबियत भरती नहीं। दिल हजार-हजार कलाबाजियाँ रोज खाना चाहता है। कला की यह चाह भी एक तृष्णा है, परन्तु तृष्णा का कभी अन्त होता नहीं। मेरे हृदय में भिन्न-भिन्न कलाओं को सीखने की उत्तप्त तृष्णा है। पें-पें रोते-बिलखते मरीजों की सेवा करने में हार्दिक सन्तोष तो है, परन्तु मानसिक उल्लास नहीं।

सो मेरा मन पतङ्ग और परेती हाथ में लेकर कलापूर्ण नर्तन करने को मचल उठा है आज।

"मङ्गल !....ओरे मङ्गल !...." उस परेतीवाले बच्चे को मैं पुकारता हूँ।

चौंकता है बच्चा। कहता है—"क्या है भैया !...."

"है क्या ?....ला परेती इधर दे ! मैं भी थोड़ी देर तक उड़ा लूँ आज"—

"अच्छा ! आज इत्ते दिनों बाद उड़ाने की सूझी है ?..."

कहकर मङ्गल ने मेरे हाथ में, उड़ती हुई पतंग का सहारा, वह गोलमाल परेती थमा दी है। मैं उचकने लगा हूँ। परेती कभी इधर करता हूँ, कभी उधर। सोचता हूँ कहीं पतङ्ग गिर पड़ी तो इस पराजय पर कितनी लज्जा लगेगी मुझे ?

यह हाड़-माँस का मानव पराजय से घबड़ाता आया है सदैव से ही और हमेशा इसने विजय की ही कामना की है, चाहे उसके हाथ सशक्त हों अथवा अशक्त।

परन्तु यह आफत की मारी शैतान पतंग सम्हाले नहीं सम्हलती। अनभ्यस्त हाथों का सहारा पाकर हिंडोले की तरह

...-डोल रही है, गिर पड़ना चाहती है। गिरी तो मंगल सोचेगा कि पहाड़ जैसे उसके भैया को यह 'दुअन्नी भर' की कला भी नहीं आती।

सच भी है। जो पतंग नहीं उड़ा सकता, गोली-कौड़ी-कम्भा-गुच्चूपारा नहीं खेल सकता, वह और कर ही क्या सकता है? जो जी नहीं सकता, खेल नहीं सकता, हँस-बोल नहीं सकता—वह केवल मर सकता है। सच! ऐसे इन्सान के लिए इस तख्तये-दुनिया में कोई स्थान नहीं होना चाहिये।

यह लीजिये!

गिरी...गिरी....

अररर धड़ाम्!

परकटी चिड़िया की तरह बेईमान पतंग सामने मकान की छत चूमने लगी है। मैं बौखला गया हूँ।

और यह कमीना मंगल ही-ही करके हँसने लगा है। जी चाहता है उसके सफेद-सफेद दाँत तोड़ दूँ।

जाने दीजिये—दूध के दाँत तो अपने-आप टूट जाते हैं, उन्हें तोड़ने की आवश्यकता ही क्या?

सामने की छत पर गिरी हुई पतंग को मैं हताश दृष्टि से देख रहा हूँ। कुछ करते नहीं बन रहा है। जानता ही नहीं कि पतन के समय 'खींचूँ' या 'ढीलूँ'।

कभी ऊँचे उठा नहीं, कभी नीचे गिरा नहीं—तो यह खींचने-ढीलने की कला मुझे कैसे आये?

और अब जरा देखिये!

देखिये साहब! मेरा मुँह क्या देख रहे हैं?

वहाँ देखिये—वहाँ! सामने की छत पर, जहाँ आफत की मारी पतंग पतन का मजा ले रही है।

उस छत पर चाँद खिल उठा है ! आप हँसने लगे ? सोचते हैं कि कहीं दिन के समय भी चाँद-सितारे खिले हैं कभी ?

कलिकाल है भाईजान ! सो सभी कुछ होनी-अनहोनी घट सकती है ।

वह चाँद सशरीर है—केवल रजतगोला नहीं। सौंदर्य का अम्बार एवं यौवन का अपरिमित भार लादे मानव-शरीर-धारी है वह !

देखिये ! कितनी सुन्दर लग रही है । कभी अपनी छत पर गिरी हुई मेरी पतंग की ओर देखती है और कभी आँखों में हताशा भरे हुए मेरे मुख की ओर ।

कौन है ?

जाने कौन है ? आज पहले-पहल ही तो देखा है उसे । लगता है, मैं बेहोश हुआ जा रहा हूँ । एकदम अचैतन्य ।

सौंदर्य-प्रकाश तथा स्वर्णराशि देखकर कौन नहीं अचम्भित होगा ?

सो मैं भी काठ में जड़ी हुई शीशे के भीतर से झाँकती हुई तस्वीर की तरह खड़ा हूँ—चुपचाप, बिना हिले-डुले । आँखें अपना काम कर रही हैं । इधर का सम्वाद उधर और उधर का सम्वाद इधर लेजा-लेआ रही हैं । हृदय की धड़कन बढ़ चली है । जी चाहता है कि परेती फेंक कर उछलता हुआ कलेजा कस कर पकड़ लूँ—कहीं कम्बख्त छिटक कर बाहर न आ जाय ।

चाँद के शरीर में कम्पन हुआ है अब और पतले-पतले हाथों ने आगे बढ़कर मेरी पतित-पतंग उठा ली है । इशारा भी हुआ है कि डोर खींचूँ मैं ।

परन्तु हाथों में तो भव्य आकर्षण की अनुभूति से पत्थर बँध गये हैं—छटाँक भर के हाथ मन-मन भर के हो रहे हैं । कैसे खींचूँ 'लगी हुई' इस डोर को ?

मगर खींचना ही पड़ रहा है। किसी तरह खिंची-खिंची पतंग मेरे पास आ गई है और उसे मैंने उठा कर अपने कलेजे से लगा लिया है। उसे सहलाने भी लगा हूँ, जैसे 'चाँद' का हाथ लगने से कागज की वह पतंग जल गई हो और दीर्घाकार फफोला पड़ गया हो उसकी छाती पर।

फेंकी हुई उस डोर को वापस बुला कर जैसे मेरा कलेजा दो टुकड़े हो गया है।

क्या करूँ ?

तड़पती-सिसकती हुई एक नजर अपने चाँद की ओर फेंक कर और परेती-पतंग मंगल को देकर मैं धड़ाम से छत के नीचे उतर आया हूँ।

चाँद में इतनी गर्मी होती है, यह आज ही जान पाया हूँ मैं। शायद दिन के समय चाँद उगने का यही परिणाम होता हो।

मस्तक पसीने से भींग गया है।

जाड़े की ऋतु में पसीना—और दिन के समय चाँद !

दोनों घटनायें कितनी विस्मयकारक हैं? परन्तु असम्भव भी सम्भव हो चला है आज के जमाने में—यही तो खूबी है।

बीस साल की अपनी इस छोटी-मोटी जिन्दगी में यह सारी ऊष्णता, यह हिमालय जैसी ठंढी अनुभूत और यह प्रेम को अनुभूति—सब एकदम नये हैं मेरे लिये।

कई दिन बीत गये हैं—परन्तु उस मूर्ति की मादकता, उस का सौंदर्य, उस चाँद का चांचल्य नहीं भूल सका हूँ मैं। दिल में दर्द, कलेजे में कसक और आँखों में आशा लिये दिन भर में कई-कई बार छत पर जाता हूँ परन्तु देख नहीं पाता उसे।

एक क्षण का दर्शन मेरे निकट युग-युग का अपनत्व बन कर हो गया है--पल भर की वह झलक मेरे लिये सतत् आराधना एवं साधना का साधन बन गई है।

अभी-अभी छत पर से नीचे आकर बैठा हूँ। एक लड़का आता है। कह रहा है—"माँ ने आपको बुलाया है...जीजी के पेट में दर्द हो रहा है..."

कौन लड़का है, कौन उसकी माँ है और कौन है उसकी जीजी?—यह सब देखने-सुनने की फुर्सत इस समय मुझे नहीं है। मैं तो खुद ही रोगग्रस्त हो रहा हूँ। मसीहा स्वयं ही बीमार पड़ गया है अब।

इन पास-पड़ोस के मरीजों से मैं तंग आ गया हूँ। एक न एक यमदूत सर पर धमका ही रहता है। कभी किसी के पेट में दर्द है तो कभी किसी के दिल में। नीम-हकीम क्या हुआ, लुकमान का चचा हो गया हूँ इन मुहल्ले वालों के लिये।

मैं चल पड़ा हूँ उस लड़के के साथ।

किसी घर के दरवाजे में घुस पड़ा हूँ।

किसी कमरे में आकर बैठ गया हूँ। सामने चारपाई पर कोई 'हें-हें-हों-हों' करता हुआ पड़ा है। पतली-सी कलाई पकड़ ली मैंने। नाड़ी उछल रही है। अभी जीवन के लक्षण शेष हैं। हथेली का स्पर्श अत्यन्त मुलायम है। जवानी की कोमलता एवं ऊष्णता है उसमें। मगर मुझे इन सब बातों से क्या मतलब? नीची आँखें किये हुए मैं रोगिणी की रोग-परीक्षा कर रहा हूँ।

हृदय में अब भी वही दिन का चाँद चमक रहा है और आँखों में वही सौन्दर्य घूम रहा है। विस्मृत हो गया हूँ मैं।

पूछता हूँ—"कहाँ दर्द है?"

वीणा की मादक झंकार जैसा उत्तर मिलता है—"पेट में...."

"क्यों?"

"पता नहीं...."

यह उत्तर सुनकर मैं झल्ला उठा हूँ। खाने को तो मन-दो मन भूसा खा लेंगे और जब पेट में दर्द उठेगा तो हकीम, वैद्य, डाक्टर! क्या कहें, क्या न कहें?

मैं बिगड़कर कहता हूँ—"इतना ज्यादा क्यों खा लिया ?"

मेरा उत्तेजित स्वर सुनकर रोगिणी 'हाय' कर उठती है, पता नहीं दर्द से अथवा भय से। मैं पिघल उठता हूँ, अपनी इस व्यर्थ की उत्तेजना पर। आँखें अपने आप उस कराहनेवाली के मुख की ओर उठ जाती हैं।

चौंकता हूँ। देखता हूँ तो वही....वही चाँद....वही चाँद पेट-पीड़ा के राहुग्रसन से छटपटा रहा है। उछलती हुई नाड़ी अबतक मेरे हाथों में पड़ी है। मैं उसे कसकर पंजों में दाब लेता हूँ। अपनत्व का यह स्पर्श पाकर उसकी पीड़ा कुछ शान्त होती है।

"मैंने देखा नहीं तुम्हें...." पश्चात्ताप भरे स्वर में कहता हूँ मैं।

तो वह कहती है—"आँखें फेर लेनेवाले भी कहीं देख सकते हैं ?...."

इन 'आँखें फेर लेने' के शब्द पर मैं निछावर हो गया हूँ।

आस-पास कोई है नहीं। धीरे से पूछता हूँ—"तुम्हारा नाम ?..."

"बेला...." इतने धीरे से बेला की पंखड़ी खुली कि मैं सुनता रहा, देखता रहा।

खिली हुई बेला की कली का डंठल, वह सुकुमार कलाई, मैंने अपने कलेजे पर रख ली है। मेरा कलेजा अबतक स्पन्दनहीन तथा घावहीन था—परन्तु अब, घड़ी की टकटक की तरह स्पन्दन हो रहा है और जब मानसरोवर झील जैसा एक सुविस्तृत जख्म हो गया है तो उसपर मरहम लगाने लिये कोई हाथ तो चाहिये ही। महीनों हो गये हैं। मैंने उनके पेट का दर्द अच्छा कर दिया था तो अब उनके पास तक बेरोक-टोक बगैर 'ब्रेक' के जाने लगा हूँ। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं और वाणी बोलती है—और हम दोनों भूले-भूले से घंटों बैठे रह जाते हैं। यह डोर तो पतंग की डोर से भी प्रबल निकली।

अब तो कल्पना की उड़ान बेहद ऊँची हो उठी है। हम दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते। रात जागते भागती है और दिन प्रतीक्षा में सरकता है। बड़ी बेकली है।

मगर हम दोनों एक हो नहीं सकते कभी। शून्य और शून्य मिलकर शून्य भले ही रह जाय, मगर एक और एक मिलकर तो दो हो जाते हैं। हम दोनों इकाई हैं परन्तु आपस में मिल जाने से द्वैत भाव का आना अनिवार्य है—यही है समाज की विशृंखलता! जो इकाई हैं, जिनमें भाव हैं, प्रेम है, तमन्नायें हैं, वे मिल नहीं सकते या मिलकर भी भिन्न कर दिये जाते हैं—और जो शून्य हैं, जिनमें भाव नहीं, प्रेम नहीं, कुछ नहीं—वे घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। कितना बेईमान है यह समाज? इसके डर से कोई रोये भी नहीं, तड़पे भी नहीं, सिसके भी नहीं। आँखों में सागर और दिल में आग लिये जलता रहे।

आज उन्होंने बड़े साहस से कहा है—"चलो, कहीं चल दें...."

चल तो दें परन्तु कहाँ? सभी जगह तो समाज के ये भयानक कीड़े बिलबिलाते रहते हैं। इन कीटाणुओं से बचें नहीं तो क्या अपनी जान दें? जल्दबाजी में आकर कुछ कर गुजरे तो जिन्दगी भर के लिए अवहेलना और अनादर का पात्र बने। मैं तो पुरुष हूँ—अवहेलना एवं अनादर की मार सहने के लिए पुरुष काफी सबल है। परन्तु नारी! बेला रानी जैसी नारी! नहीं सह सकती वह यह सब।

और केवल बेला के भविष्य का ध्यान कर मैं इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर रहा हूँ। किसी तरह दिन का उजाला और रात का अन्धकार बीतता चला जा रहा है। अब तो हमारे और बेला के सम्बन्ध में लोगों की जबानें चलने लगी हैं। समाज के नेत्र सतर्क हो गये हैं। बदनामी फैल रही है। और मुझे बाध्य होकर अपनी गति-विधि रोक देनी पड़ी है। बेला से मिलना-जुलना भी बन्द कर

दिया है और इसीलिए दुख-दर्द हजारगुना बढ़ गया है। बेला के लिये मुझे इतदा तो सहना ही पड़ेगा।

और आज बेला के दरवाजे का चबूतरा शहनाई की मधुर ध्वनि से गूँज उठा है। शादी है न उसकी! नारी है वह, प्रजनन की मशीन है—तो उसे विवाह तो करना ही पड़ेगा। सो आज उसका विवाह है। दूसरे की होने जा रही है वह।

मैं वैकल्य से भर कर रो भी नहीं सकता और हँसना तो शायद मेरे लिये बना ही नहीं।"

पपिहिरी की आवाज सीधे कलेजे में पैंठती जा रही है, लगता है जैसे कोई भाला चुभा जा रहा हो। फिर भी चुप हूँ—वाणी अपना स्वर खो बैठी है, आँसू आँखों से रूठ चले हैं।

पतंग की डोर टूट रही है आज!

जिसे इतने दिनों तक कलेजे के प्यार से, नेत्रों की ज्योति से तथा बिलखते अरमानों से सजाया-सँवारा था—वही 'पतंग की डोर'....

तो यह है बीते दिनों की एक छोटी-सी मादक स्मृति। उन दिनों की घटनाओं को जब कभी दिमाग में दौड़ाने लगता हूँ तो हृदय कसक से भर जाता है, साथ ही एक गुदगुदी-सी उठ खड़ी होती है। मैं विभोर हो जाता हूँ।

खैर! बीते दिन की याद में तड़पा जा सकता है परन्तु बुलाने से वे दिन फिर कभी वापस नहीं आने के। दिन का गुजरना और मानव की मृत्यु दोनों में कहीं भी लौट सकने की गुञ्जाइश नहीं।

बहुत हो चुका अब तो। सोचता ही रहूँगा तो यह उपन्यास यों ही अधूरा पड़ा रह जायगा। कुछ भी हो, अब तो लिखना ही चाहिये। आओ लेखनी, सजग हो—आओ सरस्वती, बैठो कलम की नोक पर....

अगम अन्धकार के बीच से टूटी हुई दोनों तारिकाओं की क्षणिक ज्योति लुप्त हो चुकी थी। मानव इसी प्रकार अपने उच्चासन से गिरकर अवनति के गहन अँधेरे में लुप्त हो जाता है।

गाँव सोया पड़ा था। रात्रि की वेला में केवल कुछ ही लोग सजग थे—धीरे-धीरे बहती हुई हवा, आकाश में झाँकते हुए तारे, जागते रहने का सन्देश देते हुए प्रहरी, मालिक का नमक खाकर भूँकते हुए कुत्ते और दूसरों के माल पर हराम का जीवन व्यतीत करने वाले मालेमुफ्त दिले-बेरहम चोर!

पतन की सीमा पार करके, थकावट से चूर-चूर हो पपिहरा और दीपक एक ही खटोले पर सो गये थे। झोपड़ी के अन्धकार में उन दोनों की आकृतियाँ घुल गई थीं।

दरवाजा खटका। पहले धीरे से फिर जरा तेजी से। दीपक की नींद उचट गई। उसने गौर किया। दरवाजा इस बार और तेजी से खटका।

दीपक ने पपिहरा को धीरे से जगाया।

"क्या है?"

"कोई दरवाजा खटखटा रहा है—" बोला दीपक।

"या खुदा! रसूल भैया ही होंगे—अब?—तुम्हें यहाँ देख कर जाने क्या समझें...."

"पपिहा! दरवाजा खोल रे पपिहा!"—बाहर से किसी ने पुकारा।

"हाय अल्ला!"—पपिहरा घबड़ाकर बोली—"उन्हीं की आवाज है। रात में ही कैसे लौट आये रसूल भैया...मैं क्या करूँ—क्या करूँ मैं?...."

"देखो, झोपड़ी में अँधेरा है—" दीपक ने कहा—"मैं दरवाजे के पास छिप जाता हूँ और तुम आगे बढ़कर दरवाजा खोलो।

जैसे ही रसूल अन्दर आयेगा, मैं धीरे से बाहर खिसक जाऊँगा....”

“ठीक है....”

पपिहरा ने धड़कते दिल से दरवाजा खोला। रसूल अन्दर आया।

परन्तु दरवाजे की ओट में छिपे हुए दीपक ने ज्योंही बाहर खिसकना चाहा कि रसूल की तेज आँखों ने उसकी छाया देख ली और लपक कर मजबूत हाथों से उसकी कलाई पकड़ ली। दीपक छटपटाया परन्तु उस फौलादी शिकंजे से अपने को मुक्त न कर सका।

“पपिहरा दिया जला !...”

रसूल की अतिशय गम्भीर आवाज सुनकर पपिहरा का दिल दहल उठा, पैर का पोर-पोर काँपने लगा। उसने धड़कते कलेजे और थरथराते हाथों से दिया जलाया। दीये की क्षीण ज्योति झोंपड़ी के अन्धकार में हँस पड़ी।

रसूल ने अपने बन्दी को देखा। चौंक पड़ा—“तुम....”

“...” दीपक का सर नीचा था। चोर का हृदय काँप रहा था।

पपिहरा पत्थर बनी खड़ी थी।

“तुम यहाँ इतनी रात को क्या कर रहे थे दीपक भाई !”—रसूल का स्वर कड़ा था और उसका पञ्जा दीपक की कलाई को कसकर पकड़े हुए था।

दीपक अब भी चुप ही रहा।

“जवाब दो दीपक !”—चिल्लाया रसूल—“तुम शहर की गन्दगी लाकर गाँव में फैलाना चाहते हो ? यह समझ लो कि अब तक गाँव की आबोहवा साफ-व-पाक है, यहाँ सभी एक दूसरे के हमदर्द हैं—कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी वजह से मुझे सारे

हिन्दुओं से नफरत हो जाय। गाँव में एक भी ऐसा हिन्दू नहीं जो रसूल के दो-चार हाथ बरदाश्त कर सके। अगर मैं शैतानी पर आमादा हो जाऊँ तो गाँव से सारे काफिरों का सफाया हो जाय....अच्छा है कि आज मैं अपने होश में हूँ—नहीं तो रात के अय्याम में तुम्हें यहाँ देखकर गला ही टीप देता....तुम जैसे शहरी जानवरों से तो हमारे गाँव के कुत्ते बेहतर हैं...चुप क्यों हो ? जवाब दो....”

दीपक क्या कहे, क्या न कहे ?

पपिहरा के होंठ खुले—“भैया ! ये हमसे मिलने आये थे....”

“भैया की बच्ची !”—तड़प कर बोला रसूल—“मिलने-जुलने के लिये दिन की रोशनी अच्छी होती है। रात का कालापन तो बरबादी का वायस है...”

रसूल ने दीपक का हाथ छोड़ दिया। बोला—“देखो, आस-पास दस कोस के अन्दर मेरे जैसा खौफनाक आदमी कोई नहीं। बेहतर हो कि तुम इस वक्त चले जाओ, वर्ना मेरा गुस्सा बुरा होता है। मुझे अफसोस है कि तुम कैलास भाई के दोस्त हो, वर्ना अपने घर में घुसे हुए लुटेरे को मैं छोड़ता नहीं.... जाओ !....”

रसूल ने दीपक को दरवाजे से बाहर ढकेल दिया।

अन्दर से दरवाजा बन्द करके वह खटोले पर आ बैठा। क्रोध से उसकी आँखें आग हो रही थीं। बदन का कलापन दीये की रोशनी में बड़ा ही भयानक लग रहा था।

पपिहरा खड़ी थी। बदन का खून पानी हुआ जा रहा था। सोच रही थी कि कहीं यह भयानक शेर पिछली रात की तरह उस पर टूट न पड़े।

मगर खैरियत यही थी कि रसूल आज बोतल पर सवार नहीं था।

"पपिहा !"

"........" वह चुप रही।

तो रसूल ने उसकी कलाई पकड़कर उसे अपने पास खींच लिया और उसके मुँह पर कई तमाचे जड़ दिये। फिर गरजकर बोला—"चुप क्यों है, ज़बान भी कटा दी क्या तूने ?...."

"भैया !..." रो पड़ी पपिहरा।

"दीपक यहाँ क्यों आया था ?"

"मुझे माफ कर दो भैया !"

"बेईमान कहीं की ! सिर्फ माफी माँगे जाती है, मगर मेरी बातों का कुछ भी जवाब नहीं देती"—बोला रसूल—"रसूल के काले मुँह पर और भी कालिख लगा देने का इरादा है क्या तेरा ? तू चाहती है कि गाँव के लुच्चे मेरी ओर उँगली उठाकर मेरी आँखें फोड़ें....याद रख पपिहरा ! जिस दिन गाँववालों की जबान पर तेरी बदनामी आई, उसी दिन मैं तेरा गला टीप दूँगा....मैं बुरा भले ही हूँ, अपनी बदनामी की मुझे परवाह नहीं—मगर तेरी ओर किसी का इशारा मेरे लिये नाकाबिले-बरदाश्त होगा...."

"........"

"यह लुका-छिपी का खेल तू कब से खेल रही है !"

"अब बस करो भैया !"

"यह दीपक !"—घृणा युक्तस्वर में बोला रसूल—"सुना करता था कि गाँव की झाड़ियों में साँप रहा करते हैं मगर अब मालूम हुआ कि शहर के साँप भी मौत के परवाने होते हैं। अच्छा हो कि तू अभी से सम्हाल ले अपने को और शहर की बदबू अपने बदन से न लगा। गाँव में कितने ही खुशबूदार फूल हैं, जिन्हें पाकर तेरा दिलो-दिमाग मुअत्तर हो जायगा...मैं जानता हूँ कि तू अब बड़ी हो गई है, मगर जवानी के माने यह नहीं कि

टूटे घड़े के पानी तरह तू अपनी सारी इज्जतो-अस्मत धूल में मिला दे....अच्छा हुआ कि मैं आज रातो-रात चला आया, वर्ना खुदा जाने क्या क़हर टूटता ? मैं कल जमींदार के घर जाऊँगा और उनसे कहूँगा कि वे उस जहरी साँप को जल्द से जल्द शहर को वापिस भेज दें...."

"ऐसा न करो भैया !...वे खुद चले जायेंगे....तुम उनकी तौहीन न करो, उनके दोस्त के सामने...."

"तू चुप रह...कल की छोकरी चली है मुझे सिखाने....उसकी तौहीन का इस कम्बख्त को इसका खयाल है मगर मेरी इज्जत इसके लिये जैसे जमीन की धूल बन गई है..."

रसूल उठकर बाहर चबूतरे पर जा लेटा। पपिहरा खटोले पर बैठकर दुस्सह चिन्ताओं में निमग्न हो गई।

आज क्या से क्या हो गया! बचपन की बुलबुल जवानी की गुलेल की एक ही चोट खाकर कितनी जल्दी उड़ गई कि वह जान ही न सकी। दीपक का इसमें क्या अपराध है और पपिहरा की भी क्या गलती ?

सारी गलती आँखों और जवानी की है। आँखें लड़ीं और जवानी का नशा बन्धन तुड़ाकर बलबला उठा। दोनों मदहोश हुए और फिर पतन—और आकाश से तारिकाओं का टूटना....

सब कुछ जैसे अनजाने में एकाएक हो गया।

ग्लानि से भरा दीपक जब रात के सन्नाटे में पपिहरा के घर से निकाल दिया गया तो उसे बड़ी व्यथा हुई। आजतक उसका इतना अपमान कभी नहीं हुआ था। दूसरों की बातें उसने कभी सहन नहीं की थीं।

धीरे-धीरे लड़खड़ाते पैरों से वह चला जा रहा था। उसका मस्तिष्क ठिकाने नहीं था। मनुष्य अपने को भूल कर कितना नीचे गिर जाता है क्षण भर में। वह जानता है कि पतन बुरी चीज है

परन्तु नीचे गिरने की आदत मनुष्य की बहुत पुरानी है और पुरानी आदत छुड़ाये छूटती नहीं कभी।

दीपक सम्पन्न परिवार का लड़का है। बचपन में उसे कोई अभाव नहीं रहा—और जवानी में जो कुछ अभाव उसे खल रहा था, उसने गाँव में आकर उसे पूरा कर लिया।

परन्तु यह लांछन उसके लिए असह्य था। वह कैलाश को क्या मुँह दिखायेगा? वह तो उससे घूमने का बहाना करके घर से निकला था। अब इतनी रात बीते जब वह कैलाश की हवेली पर पहुँचेगा तो वह कैलाश के प्रश्नों का क्या जवाब देगा?

सोचता-सोचता पागल-सा हो रहा था दीपक।

कैलाश की हवेली के सामने अपने को पाकर वह चौंक पड़ा। काँपते पैरों से अन्दर घुसा और चुपचाप कैलाश के कमरे में आकर कपड़े उतारने लगा।

"कौन है?"—कैलाश के सजग स्वर ने पूछा।

सुनकर दीपक नवसिखुये चोर की तरह भयभीत हो उठा—और काँपते स्वर में बोला, धीरे से—"मैं हूँ...मैं!"

"तुम तो हो ही। मैं सोया नहीं हूँ, जाग रहा हूँ मगर...." कैलाश उठकर दीपक के पास आ रहा—"मगर तुम इतनी रात तक कहाँ थे दीपक? तुम्हारी खोज में लठैतों को चार बार भेज चुका हूँ, फिर भी गाँव में कहीं तुम्हारा पता न लगा। तुम तो अब रात में निशाचरों की तरह भ्रमण करने लगे हो। शहर में इतनी रात तक घूमते तो पुलिस तुम्हें अवारागर्दी में गिरफ्तार कर लेती—गाँव में पुलिस नहीं है तो क्या तुम यह समझते हो कि यहाँ कोई नियम-कानून है ही नहीं?"

कह कर कैलाश हँसा।

दीपक के चेहरे पर पतझड़ उठ खड़ा हुआ था। मजाक में कहे हुए वे वाक्य उसका कलेजा बेधे जा रहे थे।

बोला—"ऊँचे उठने का अभिलाषी था कैलाश !....मगर आज मालूम हुआ कि पतन का विस्तार उन्नति की सीमा से बहुत अधिक है...."

"तो तुम हौली से पीकर आ रहे हो ?"

"मेरे दोस्त ! हौली इतनी रात गये किसी के इन्तजार में खुली नहीं रहती। मुझे बगैर पिये ही नशा हो आया है। मैं आज नीचे गिरा हूँ। आस्मान पर तारा बनकर चमकने की चाह थी मगर आज जमीन की धूल बनकर नीचे पड़ा हूँ।"

"तुम कहाँ थे अब तक दीपक !"—कैलाश को दीपक की भाव-भंगी से शंका हो आई थी।

"पपिहरा के यहाँ था !"—दीपक ने स्पष्ट कह दिया।

"क्या कर रहे थे अब तक ?"

"उसके साथ सोया था...." दीपक बोला।

सुनकर कैलाश की आँखें खिड़की की तरह खुल गईं, आश्चर्य से। उसका हाथ पकड़ कर कहा उसने—"तुमने नादानी कर डाली दीपक। रसूल देख लेता तो क्या करता, जानते हो ?"

"उसने हमें देख भी लिया कैलाश !"

"देख लिया ?—और उसने चुपचाप तुम्हें यहाँ चले आने दिया ?"

"वह आज नशे में नहीं था...." बोला दीपक।

"खैरियत समझो"—कैलाश ने कहा—"मगर तुमने यह अच्छा काम नहीं किया दीपक ! तुम तो ऐसे कभी नहीं थे। गाँव की हवा स्वास्थ्यकर होती है परन्तु वह तुम्हारे लिये जहर साबित हुई...पपिहरा को भी अपने साथ गिराया तुमने...."

"वह खुद गिरी कैलाश !"—बोला दीपक—"और मुझे भी उसने गिराया। तुम्हीं बताओ, सौन्दर्य की चोट कोई कब तक बरदाश्त कर सकता है ? आँखों के चुम्बक से लोहे का कलेजा भी

खिंच ही आयेगा। इसमें मेरा अपराध नहीं मित्र! सारा दोष पपिहरा का है।"

"दीपक!"—कुछ रूखे स्वर में कहा कैलाश ने—"पपिहरा अभी नादान है। वह रोगी हो सकती है परन्तु रोग की दवा वह नहीं जानती। तुम डाक्टरी पढ़ रहे हो। दवा देना तो तुम्हीं जानते हो। परन्तु तुमने उसे दवा के बदले जहर दे दिया दीपक! तुम सफल डाक्टर कभी नहीं बन सकते...."

"मुझे माफ कर दो भाई कैलाश!"

"माफी तुम सवेरे जाकर पपिहरा और रसूल से माँगना। रसूल चाहे कितना ही शैतान हो परन्तु हमारे खानदान के साथ उसका निकट सम्पर्क रहा है। मैं यह नहीं चाहता कि उसके हृदय में कभी भी विक्षोभ की सृष्टि हो....तुम इस समय सो जाओ। सुबह मैं रसूल को बुलवाऊँगा..."

और सुबह ही—

रसूल हवेली के दरवाजे पर बिना बुलाये ही आ खड़ा हुआ।

दीपक और कैलाश उस समय हलुआ और दही के शरबत का नाश्ता कर रहे थे। दीपक एकदम खामोश था, जैसे दो बजे रात को आलइण्डिया रेडियो।

लठैत ने आकर रसूल के आने की सूचना दी। सुनकर दीपक का रग-रग काँप उठा। वह सम्हल कर बैठ गया।

रसूल आया। उसने कैलाश को बन्दगी की और दीपक की ओर तीव्र दृष्टि से देखता हुआ खड़ा रहा।

"कैसे आये रसूल भाई!"—पूछा कैलाश ने।

रसूल का काला-भयानक बदन एक बार हिला, आँखें ज्वाला की तरह चमकीं, फिर धीरे से बोला वह—"मैं यह कहने आया हूँ छोटे भैया कि आजकल गाँव में साँप पैदा हो रहे हैं और यह

गाँव तुम्हारा है। हम तुम्हारी रियाया हैं। हमारी हिफाजत तुम्हारे जिम्मे है....''

''अपनी जिम्मेदारी मैं जानता हूँ मगर साँप कहाँ नहीं होते रसूल भाई...''

''साँप सभी जगह होते हैं छोटे भैया ! मगर साँपों का पालना अक़्लमन्दी नहीं। मुझे यह कहते हुए अफसोस है कि तुम आज-कल साँप पाल रहे हो। तुम रियाया की हिफाजत के बदले उनकी मौत का सामान इकट्ठा कर रहे हो....साँप को हलुआ और दही का शरबत तुम खिला-पिला रहे हो छोटे भैया...''

''मैं सब जानता हूँ रसूल !''—बोला दीपक—''मगर अपने जानवरों का पालन-पोषण तो करना ही पड़ेगा मुझे....''

''तुम सब जानवर पाल सकते हो मगर मैं तुम्हें साँप नहीं पालने दूँगा छोटे भैया !''—रसूल तेज स्वर में बोला—''तुम जानते हो कि मैं इस वक्त अपने होश में हूँ मगर बेहोश होते ही मैं तुम्हारे साँप का सर तोड़ दूँगा। मेरी ताकत तुम जानते हो छोटे सरकार !....''

''जानता हूँ मैं''—कैलाश बोला—''मगर याद रखो रसूल कि दीपक मेरा मित्र है और मेरी बन्दूक के आगे तुम्हारे ये मजबूत हाथ-पैर छटपटा कर ठण्ढे पड़ जायँगे....''

''मुझे माफ करो छोटे भैया ! मैं तुमसे लड़ने नहीं आया... मैं तुम्हारे और ठाकुर दादा के सामने भेंड़ का बच्चा बन जाता हूँ और भेंड़ के बच्चे के लिये बन्दूक की क्या जरूरत ?'' रसूल बोला—''मगर जरा अपने इन लायक दोस्त से पूछो कि रात के अँधेरे में इन्होंने क्या गुल खिलाया है ?''

''मैं सब सुन चुका हूँ रसूल भाई !''—बोला कैलाश—''केवल मुझे ही नहीं, खुद इनको भी दुख है। मगर इसमें पपिहरा की भी रजामन्दी थी...''

"ठीक है छोटे भैया! गुलाब की कली को तोड़कर सूँघनेवाले कह देते हैं कि वह हवा के झोंकों से झूम कर हमें अपने पास बुला रही थी...मगर खुदा जानता है कि पपिहा मुझ जैसे हैवान के के साथ रहकर भी अब तक कितनी मासूम है...शिकारी की बाँसुरी पर झूमता हुआ मिरगा बेहोश हो सकता है मगर जाल में फँसने वह नहीं आता...तुम्हारा दोस्त इतना बड़ा शिकारी है, मैं यह नहीं जानता था, नहीं तो पहले ही होशियार हो जाता...."

"मुहब्बत की कद्र करनी चाहिये तुम्हें रसूल भाई! दोनों में काफी दिनों से मुहब्बत है"—बोला कैलाश।

"मुहब्बत की मैं दाद देता हूँ छोटे भैया! मगर मुहब्बत इन्सान को अन्धा भी बना देती है, यह मैं नहीं जानता था"—रसूल ने कहा—"फिर, मुहब्बत ऐसी चीज नहीं जिसे रास्ते भर लुटाते चलें। इन दोनों से मुहब्बत थी मगर खुद फैसला करने का इन्हें क्या अख्तियार था? फैसला कोई तीसरा आदमी करे, तभी अच्छा होता है छोटे भैया। मैं मर नहीं गया था, तुम भी मौजूद थे—तो फिर हमें इसकी खबर क्यों नहीं दी गई?"

"जो कुछ हुआ, उसे भूल जाओ रसूल भाई।"—कहा कैलाश ने—"अब तो तुम सब जान-सुन चुके हो। अब से भी अच्छा है कि...."

"छोटे भैया!—यह न भूलो तुम कि हमें इसी दुनिया में रहना है और इस दुनिया के कायदे-कानून में मुहब्बत के लिये कोई दर्जा नहीं....मैं नहीं चाहता कि मेरे डर से काँपने वाले इन्सान कल मेरे सामने सीना तानकर खड़े हों और कहें कि मैंने अपनी बहन को.... अपनी बहन को....मेरी जबान न खुलवाओ छोटे भैया! मुझे यह रिश्ता पसन्द नहीं। मैं सच कहता हूँ कि इस वक्त मेरी नजरों में तुम्हारा दोस्त बेहद जलील बन चुका है, मेरे दिल की एक-एक शिकन इसकी तरफ से नफ़रत से भर गई है....मुझे मजबूर न करो

छोटे भैया! मजबूर होकर जबरियन कोई काम करने का आदी मैं नहीं..."

चलने लगा रसूल। उसके पैर दरवाजे की ओर बढ़े।

कैलाश ने पुकारा—"सुनो तो रसूल भाई!...."

रसूल जरा-सा घूमकर बोला—"बहुत सुन चुका छोटे भैया! बेहतर हो कि तुम अपने पालतू साँप को शहर भेज दो जल्द से जल्द, और यह समझ लो तुम कि तुम्हारी बन्दूक दिन के उजाले में ही शिकार कर सकती है, रात के अँधेरे में निशाना चूके बिना न रहेगा....मगर मेरे हाथ काली रात में भी अपने शिकार का गला खोज लेंगे...."

तेजी से रसूल कमरे से बाहर निकल गया।

कैलाश और दीपक बड़ी देर तक चुपचाप बैठे रहे। कोई कुछ बोला नहीं। दीपक तो आज सुबह से ही मौन धारण किये था। कैलाश भी चिन्ता में निमग्न हो उठा।

बड़ी देर के बाद बोला कैलाश—"बड़ा खतरनाक आदमी है यह रसूल! जिस काम का इरादा कर लेता है, उसे पूरा करके ही छोड़ता है। तुम्हारा अब यहाँ रहना ठीक नहीं दीपक! अच्छा हो कि तुम कल सुबह चले जाओ—और आज दिन भर तुम हवेली में ही रहो, कहीं जाओ-आओ मत...."

"मुझे बड़ा दुख है कैलाश कि मेरे कारण तुम्हें परेशानी उठानी पड़ी...और बेचारी पपिहरा तो जाने क्या भुगत रही होगी। क्या मुझे माफी नहीं मिल सकती?"—

"कौन माफ करगा तुम्हें?"

"रसूल!"—दीपक ने कहा।

"जिसके पास अशिक्षा और ताकत होती है, वह माफ नहीं करता दीपक! वह बदला लेता है—और रसूल का बदला अनुमान

से कहीं अधिक भयानक होगा। तुम क्षमा पाने की आशा छोड़ो और यहाँ से चले जाओ...पपिहरा को भी भूल जाओ..."

"अच्छा !"

इतना मार्मिक स्वर निकला दीपक के होठों से कि उसके हृदय की करुणा हवा के कण-कण पर तिर उठी।

उस दिन दीपक ने कुछ खाया नहीं। ग्लानि से पेट इतना भर चुका था कि अन्न के लिये तनिक भी स्थान नहीं था। कैलाश ने बहुत जोर दिया मगर मित्र का हठ हृदय की पीड़ा के आगे हार मानकर रह गया।

और पपिहरा !

वह भी झोपड़ी में खटोले पर बैठी हुई आँसू बहा रही थी। प्रातःकाल ही उसने रसूल को बाहर निकलते देखा तो वह समझ गई कि वह हवेली की ओर जा रहा है। उसका कलेजा धड़कने लगा—रसूल जो न कर डाले सो थोड़ा।

पिछली रात की एक-एक घटना उसे ज्यों की त्यों याद थी। उसके जीवन में एकाएक जो इतना भीषण तूफान आया था, उसकी भयङ्करता वह कभी भूल नहीं सकती थी। दीपक के लिए वह चिन्तित थी। उसके हृदय में दीपक ने प्रेम की प्रबल धारा बहाई थी और इस समय वह सब कुछ भूल कर केवल उसी के चिन्तन में तल्लीन थी ! कहीं रसूल के कारण दीपक को कुछ हो गया तो वह कैसे धैर्य रख सकेगी ?

रसूल हवेली से लौटा तो पपिहरा ने देखा कि उसका चेहरा तमतमाया हुआ है। देखकर पपिहरा को आशङ्का हुई।

वह दौड़कर रसूल के पास आई। पुकारा—"रसूल भैया !...."

"क्या है ?" उसका स्वर अतिशय गम्भीर था।

"तुम क्या कर आये हो भैया, मुझसे साफ-साफ कहो—तुमने क्या किया है, बोलो ?"—

"कुछ नहीं !"

"मगर तुम्हारा चेहरा लाल है"—बोली पपिहरा—"तुम्हारी आँखों में खून भरा है..." पपिहरा ने रसूल के पैर पकड़ लिये—"मुझे बताओ मेरे भैया ! तुमने क्या गजब किया है ?"

"छोड़ मेरा पैर !"—रसूल ने अपना पैर तेज़ी से खींच लिया, पपिहरा नाक के बल ज़मीन पर आ गिरी—"इन हाथों से मेरा जिस्म मत छू। तेरे बदन का एक-एक ज़र्रा नापाक़ हो चुका है। शैतान जवान होकर हैवान बन गई। तेरी सारी मासूमियत कहाँ चली गई, बोल !...."

"मुझे माफ़ कर दो भैया !...रसूल भैया, मुझे माफ़ कर दो....न माफ़ कर सको तो मेरा गला घोंट दो, मेरी जान ले लो, मुझे मार डालो मगर उन पर कोई आफत न ढाओ भैया !..."

"तेरी जान लेकर क्या करूँगा मैं ?"—बोला रसूल घृणा-पूर्वक—"तेरे जिस्म को मैंने अपने खून से सींचा है—और कोई भी इन्सान अपने लगाये हुए पौधे को खुद बरबाद नहीं करता... बेहतर हो कि तू अपनी छाया को कुछ दिनों तक मेरी आँखों से दूर रख...."

"मगर वे....उनका क्या होगा भैया !"

"मैं उसे माफ नहीं कर सकता छोकरी ! उसका ख्याल तू निकाल फेंक अपने दिल से। साँप से एक बार का खेलना खतर-नाक न हो मगर बार-बार के खेलवाड़ से मौत की लकीर जिन्दा हो उठेगी—समझी कि नहीं तू...मैं जा रहा हूँ। रात को पीकर आऊँगा। तू बसीदा दादी के घर में सो रहना—मेरे सामने आई नहीं कि तेरी शामत ही आ जायेगी..."

"कुछ खाना बना दूँ, खालो भैया ! तब जहाँ जाना हो जाओ"—पपिहरा ने कहा।

"तू मुझे खाना खिलायेगी ? तेरे हाथ का ज़हर कौन खाना चाहेगा ? मुहब्बत के पीछे इन्सान खूनी भी बन सकता है। कौन जाने तू किसी दिन मेरी जान लेने पर आमादा हो जाय..." कहकर रसूल ने बरछा लगा हुआ अपना बड़ा-सा लट्ठ उठाया और धीरे-धीरे दरवाजे से बाहर हो गया।

दोपहर का वक्त हो रहा था। सूरज की किरणें सोने की चमक के बजाय आग की लपटों का रूप धारण कर रही थीं।

पपिहरा बैठी थी खटोले पर, तभी बूढ़ी बसीदा ने वहाँ प्रवेश किया, झुकी क़मर को हाथ की लकड़ी का सहारा देते हुए।

"अरी बन्नो ! किधर है तू ?"—बोली बुढ़िया—"मुई आँखों से दिखाई ही नहीं देता या तेरे झोंपड़े में रात हो आई है, क्या बात है ?"

"मैं इधर हूँ दादी ! आ जाओ खटोले पर..."

बुढ़िया हाँफती हुई खटोले पर आ बैठी। हाथ की लकड़ी उसने ज़मीन पर रख दी, फिर पपिहरा के बदन पर हाथ फेरती हुई बोली—"क्यों री बन्नो आज एकदम गुड़िया-सी क्यों हो रही है ? बदन क्या है कि ज़रा भी जान नहीं। बोलती भी नहीं कुछ...."

"क्या बोलूँ दादी ?"

"ऐ है ! ज़बान में ताला लगा दिया क्या किसी ने ?"—बुढ़िया खाँस कर बोली—"देख बन्नो ! तेरी उमर अब जवानी का दामन चूम रही है। ऐसे वक्त ज़रा पैर कमज़ोर पड़ जाते हैं, फिसलने का डर क़दम-क़दम पर रहता है। और एक दफा पैर फिसले नहीं कि जिन्दगी भर के लिये कीचड़ लग जायगा...."

"तुम क्या यही कहने आई थीं दादी ?"

"लो, यह मुँहजली तो आजकल पूरी बिल्ली हो रही है। लोगों की आवाज सुनकर काट खाने दौड़ती है...हाँ ! यह तो बता,

आज सुबह से ही रसूल इतना गरम क्यों हो रहा है? तुझे अभ डाँट क्यों रहा था..."

"तुम तो दादी खामखाह पैर की बेड़ी बन जाती हो...."

"हाँ रे हाँ! अब तो तुझे हाथ का कङ्गन चाहिये, पैर की बेड़ी तो बूढ़ी हो चली....मगर मेरी बातों का जवाब क्यों नहीं देती...."

"यह ऐसे जवाब नहीं देगी दादी! इसके मुँह पर खलील के तमाचे लगें तो कम्बख्त अभी पिपिहिरी की तरह बजने लगे...." दरवाजे पर से किसी ने कहा।

"अरे खलील, तू भी आ गया"—बुढ़िया बोली—"आ बेटा, आ। तेरी बड़ी उमर है। अभी-अभी तेरी ही बात कर रही थी पपिहरा से..."

"इस पिपिहिरी से तुम मेरी बात कर रही थीं दादी!"—खलील अन्दर आकर बोला—"पैर तो तुम्हारे कब्र में लटक गये मगर झूठ बोलने की आदत तुम्हारी खुदा के फज़ल से अभी तक बरकरार है....खुश रहो दादी, खुश रहो...."

"अरे, चल-चल! बड़ा आया है दुआ देनेवाला! खुदा बचाये आज-कल के छोकरे-छोकरियों से—बुजुर्गों की नाक काटते हैं, इस तरह कि पता तक न चले...."

"तुम्हारी नाक तो बड़ी अजीब है दादी!—"बोला खलील—"इतना अच्छा बाजा बजाती है कि अल्लाह के फज़ल से अगर कोई रात को तुम्हारे कमरे में आ जाय तो शेर की गुर्राहट समझ कर एक....दो....तीन...."

"और तेरी नाक क्या नहीं बाजा बजाती....देख पपिहरा! अपने खलिलवा को देख तो...."

"यह पिपिहरी क्या देखेगी दादी! यह तो अन्धी हो गई है आज-कल...." बोला खलील।

"अन्धी ?"—बुढ़िया चौंककर बोली—"तभी तो रसूल आज इस पर बिगड़ रहा था....क्यों री लड़की, आँखों की रोशनी कहाँ खो बैठी ?...."

"इससे मत बोलो दादी ! यह गूँगी भी हो गई है...."

"खलील !"—पपिहरा बोली—"मुझसे मजाक मत किया करो।"

"अजी तुमसे मजाक करने की इस नाचीज में हिम्मत कहाँ..."

"तो तुम चुप रहो—मेरी तबियत दुरुस्त नहीं...."

"तबियत खराब हो तुम्हारे दुश्मनों की"—कहा खलील ने—"और अगर मेरी आवाज तुम्हें इतनी तकलीफदेह है तो लो मैं अभी बुत बन जाता हूँ...मगर नवाब की बेटी साहिबा ! खुदा ने जबान दी है चलाने के लिए ही तो—फिर चुप रहने की मनहूसियत मैं बरदाश्त नहीं कर सकता....देखा दादी तुमने इस शैतान को ! लड़कपन में तो कैंची की तरह जबान चलती थी इसकी और आज बोलती बन्द ! या खुदा रहम कर अपने बन्दों पर ! पिपिहिरी की आवाज में बल दे—"

"तेरा सर दे !"—बुढ़िया बिगड़कर बोली—"तू क्या कम शैतान है ? बोलने लगता है तो जबान रेलगाड़ी के पहियों की तरह घड़घड़ चलती ही जाती है...देख, आज पपिहा बन्नो की तबियत नासाज है। ले जा इसे तालाब के किनारे बेटा ! इसका दिल बहला आ..."

"अच्छा दादी ! तुम्हारा हुक्म कबूल....चल रे पिपिहरी ! देख, सीधे से उठ चल, नहीं तो कान पकड़कर..."

खलील ने पपिहरा का हाथ पकड़कर उठाना चाहा तो उसने हाथ झटक दिया और बिगड़ कर बोली—"देखो खलील ! मुझसे शैतानी की तो अच्छा न होगा। कहे देती हूँ...."

"कहती चल"—बोला खलील—"मैं तेरे साथ शैतानी कौन-

सी कर रहा हूँ। क्या तू यह चाहती है कि बचपन की याद एकदम भूल जाऊँ मैं? तेरे जैसी बेदिमाग छोकरी मैंने खुदा की मेहरबानी से कहीं देखी नहीं..."

"अब देख लो, और मेरा पीछा छोड़ दो—मैं इस वक्त परेशान हूँ। तुम्हारी बातें मेरा दिल बहलाने के बजाय तीर-सी चुभी जा रही हैं...."

"तो यह कहो कि बुलबुल के सीने में सैयाद का तीर लग चुका है, तभी तो पर फटफटा रहे हैं तुम्हारे...खुश रहो बुलबुल.... चलो, तालाब पर तो...."

"अरे खलील के बच्चे!"—बुढ़िया बसीदा ने पुकारा।

"कहो दादी की दादी!"—खलील बोला—"बुखार चढ़ आया है क्या?"

"बुखार चढ़े तेरी नानी को खलील के पिल्ले!...."

"मेरी नानी को जरा धीरे से पुकारो दादी, नहीं तो बहिश्त से तुम्हें लेने दौड़ी आयेगी—" खलील ने हँसकर कहा—"हाँ! बोलो, क्या कहती हो?"

"देख! इस टिटिहिरी-पिपिहिरी को चावल के बोरे की तरह पीठ पर लाद ले और ले जा तालाब के पानी में पटक आ..."

"अच्छी बात है दादी! तुम भी क्या कहोगी कि किसी भूत को हुक्म दिया था...जूड़ी-बुखार कसम दादी! अपने बड़ों की हुक्म-उदूली तो माबदौलत जानते ही नहीं"

"अरे मुए, जूड़ी-बुखार की कसम खाने को क्या एक तू ही बचा है दुनिया में?..."

"चु....चु....चुप, बिगड़ो मत दादी, नहीं तो मुझसे हुक्म-उदूली हो जायगी—पहले मुझे अपना काम कर लेने दो....आ री टिटिहिरी! चढ़ मेरी पीठ पर...."

"मैं नहीं चढ़ती..." पपिहरा ने कहा।

"माशा-अल्लाह! छोटा सा 'नहीं' का लफ्ज भी क्या बला की ताकत रखता है कि हजार-हजार जान कुर्बान!.. तू सीधे से तो मानेगी नहीं। लड़कपन से ही तेरी जिद जानता हूँ....खैर, थोड़ी सी ताकत ही लगा दूँ...."

खलील ने झुककर पपिहरा को उठा लिया और पीठ पर लाद-कर खड़ा हो गया। पपिहरा छटपटाई नहीं। चुपचाप पीठ पर चढ़ गई।

"देखा न दादी!"—बोला खलील—"बुखार कसम, यह तुम्हारी टिटिहिरी भी नाजोअदा से लबरेज है....क्या ठाट से घुड़-सवार बन गई, जरा सा बोली तक नहीं।"

"ले जा इसे—मैं भी चलूँ अपने झोपड़े में...." बुढ़िया उठ खड़ी हुई और बाहर आई।

खलील ने बाहर आकर झोपड़ा बन्द किया और पपिहरा को पीठ पर लादे तलाब की ओर चल पड़ा।

तालाब एकान्त में था ही—इस समय तो एकदम सुनसान था चारों ओर।

खलील ने पपिहरा को तालाब की सीढ़ी पर सावधानी से पटक दिया। बोला—"रास्ते भर गूँगी बनी रही मगर अब तो तुझे बोलना ही पड़ेगा...खोल अपनी जबान और बोल!...."

पपिहरा चुप रही।

"अरे!...." खलील चौंक पड़ा। पपिहरा के गालों पर बहते हुए आँसू देखकर। उसकी सारी हँसी हवा हो गई।

धीरे से नम्र-गम्भीर स्वर में बोला—"तू रो रही है पपिहा! खुदा कसम, मैं तेरे आँसू नहीं देख सकता, इन्हें बन्द कर जल्दी.... सुन रही है तू...."

अपनत्व का सम्पर्क पाकर पपिहरा और भी फूट पड़ी। हृदय

की करुणा पानी होकर आँखों की राह बह चली। गला अवरुद्ध हो गया। साँस तेजी से चलने लगी।

खलील ने प्यार से उसे अपने पास खींच लिया। बोला—"तुझे क्या तकलीफ है पपिहा! तेरी आँखों में आँसू कभी नहीं देखे—आज पहली दफा तुझे रोते देखकर मैं घबड़ा गया हूँ। मुझे सब राज बता तू—तेरे साथ बचपन बिताया है खेलते-कूदते तो जवानी में कुछ न कुछ तो तेरे काम आ ही सकता हूँ.... मुझे अपना हमदर्द समझ पपिहरा!...."

"खलील!"—पपिहरा बोली—"मैं क्या कहूँ खलील तुमसे? मैं तो लुट गई...."

"लुट गई?"—खलील आश्चर्य से बोला—"कैसे लुट गई, कहाँ लुट गई? बोल, किसने तुझे लूटा—मैं उस दगाबाज की गर्दन तोड़ दूँगा...."

"तुम उसकी गर्दन नहीं तोड़ सकते खलील!...."

"क्यों? क्या तू मुझे कमजोर समझती है-याद रख, मैं रसूल भैया का शागिर्द हूँ"—

"यह बात नहीं खलील!"—पपिहरा ने कहा—"उसकी गर्दन तोड़ने से मेरा कलेजा टूट जायगा...."

"यह बात है"—और भी गम्भीर होकर बोला खलील—"तो तेरे दिल की डोर इतनी दूर तक जा पहुँची है!...मगर वह है कौन पपिहरा! मुझे उसका नाम बता और जो कुछ हुआ है, मुझसे साफ-साफ कह..."

"मैं बहुत दूर तक बढ़ गई हूँ बरबादी के रास्ते पर खलील! अब लौट सकना मुश्किल है मेरे लिये—एक तुम्हारा ही सहारा है मुझे...."

"अरी नादान! इस सहारे को तू छोटा मत समझ और

इधर-उधर की बातें न बनाकर सारी वारदात मुझे बता....'' खलील ने कहा।

रो-रोकर, सिसकियाँ लेकर पपिहरा ने अपने बचपन के साथी को सारी बातें बता दीं। खलील ज्यों-ज्यों सुनता गया, त्यों-त्यों उसकी मुखाकृति गम्भीर होती गई!

सब सुनकर वह बोला—"तूने अच्छा नहीं किया पपिहरा! मेरा दिल कहता है कि तू जरूर तकलीफ उठायेगी। साँप पर पैर पड़ जाय तो उसके काटने का उतना डर नहीं रहता, जितना कि उसके आस्तीन में घुस जाने पर...खैर, खुदा की मरजी! अब तू क्या चाहती है मुझसे?"

"मैं परेशान हूँ खलील! वे कैसे होंगे, क्या तुम हवेली तक पता लगाओगे?"

"क्यों नहीं—मैं उससे मिलूँगा भी—देखूँ तो जरा कि वह हीरा कैसा है, जिसकी चमक पपिहरा की आँखों में तैर रही है? क्या तू उससे मिलना भी चाहती है...."

"नहीं-नहीं! रसूल भैया उनकी जान के प्यासे बन गये हैं। उनकी खैरियत जाहिर हो जाय, यही मेरे लिये बहुत है। मैं उन पर कोई आफत आने देना नहीं चाहती। वे जहाँ रहें, खुशोखुर्रम रहें।"

"पपिहरा!"—खलील ने कहा—"तू एक ही दिन में मुहब्बत के तमाचे खाकर लैली बन गई। मुझे हैरत है कि तेरी वह सारी शोखी, दिलफरेब अदायें इतनी जल्दी कैसे काफूर हो गईं। तू एकदम बदल गई है, खुदा कसम एकदम बदल गई है...."

"मेरा इतना काम कर दो खलील! तुम्हारा अहसान कभी न भूलूँगी...."

"भूले चाहे याद रखे, मुझे इससे क्या....तू खातिरजमा रख

मैं अभी हवेली की तरफ जाता हूँ। तू यहाँ से घर चल। मैं सीधे वहीं आजाऊँगा....”

खलील बढ़ चला हवेली की ओर।

हवेली के अन्दर सामने ही कैलाश खड़ा था। खलील को देखकर बोला—“यहाँ कैसे आया रे खलील ?...”

“ओहो छोटे भैया तुम ! जहेकिस्मत कि तुम दिखाई पड़े। खुदा के फजल से मैं तुम्हें ही खोज रहा था छोटे भैया...” खलील ने कहा।

“क्यों ? कोई काम है ?”

“अजी तारीफ तो यह है कि माबदौलत बगैर किसी काम के ही लोगों को खोजते फिरते हैं—यह तो बताओ छोटे भैया कि दीवट साहब कहाँ हैं ?”

“कौन दीवट ?”

“वही आपके दोस्त साहब ?”

“दीपक को पूछ रहे हो ?”

“हाँ-हाँ ! नाम भूल गया था छोटे भैया ! और तुम लोगों का नाम भी तो ऐसा रहता है कि खुदा कसम पुकारते ही नहीं बनता—” खलील ने कहा—“नाम तो ऐसा हो कि जरा-सा मुँह खुला और फट से जबान पर आ जाय। मेरा ही नाम देखिये, खिलखिलाकर हँसिये भी, तो लोग यही समझें कि खलील को पुकार रहा हूँ....”

कैलाश हँसने लगा। बोला—“तू भी तो पपिहरा का ही साथी है। तुम दोनों ही बड़े बातूनी हो। शायद उसी का कोई सन्देशा लेकर दीपक के पास आये हो ?”

“खुदा के फजल से तुम्हें तो वकील बनना चाहिये था छोटे भैया ! ऐसा सवाल पूछते हो कि जवाब देते ही बनता है....अच्छा,

मुझे देर हो जायगी। दीपक साहब कहाँ तशरीफ फरमाते हैं; जरा जल्दी बोलो छोटे भैया !"

"उस कमरे में चले जाओ...."

खलील उधर बढ़ा। कमरे के दरवाजे पर एक क्षण तक रुका रहा।

दीपक बैठा हुआ हथेली पर गाल का बोझ दिये कुछ सोच रहा था।

"खुदा कसम ! तुम तो बिलकुल ही गुमसुम बैठे हो दीपक भाई !"

दीपक ने सर उठाया। देखा, १८-१६ का नौजवान छोकरा हसीन-हँसमुख, हाथ पैर से मजबूत !

"कौन हो तुम ?..." दीपक न पूछा।

"अजी साहब ! इतना नजदीकी रिश्ता जोड़ बैठे हो, फिर भी खलील मियाँ को पहचानते नहीं। अल्लाह की मिहरबानी से बड़े ही बेवफा हो तुम...."

खलील अन्दर आ गया और बैठता हुआ बोला—"कहो भाई, अच्छे तो हो या किसी की याद सता रही है ?..."

"अच्छा ही हूँ" दीपक ने कहा। वह खलील को पहचानता नहीं था, फिर भी उसकी बातों से वह प्रभावित हुए बिना न रहा।

"बड़ी ख्वाहिश थी दिल में पपिहरा के पपीहे को देखने की, सो देख लिया"—बोला खलील—"तुम तो बड़े हसीन हो जी ! खुदा के लिए कभी मुझ पर भी निगाहें डाल लिया करो। वल्लाह, मैं तो अपने को बताना ही भूल गया था—मैं हूँ खलील मियाँ, पपिहरा के बचपन से लेकर अब तक का दोस्त—हम-उम्र-हमदर्द-हमजोली-हम..."

"बस-बस, मैं समझ गया, आगे कहो..." मुस्कराया दीपक। यह आज की पहली मुस्कान थी।

"यार ! कसम खुदा को, हँसते तो ऐसा हो कि फूल तो क्या तारे झड़ने लगते हैं तुम्हारे मुँह से। खैर ! कुछ जरूरी बातें कर लूँ, अभी मुझे लौट जाना है....पपिहा की खबर लेकर मैं तुम्हारे पास आया हूँ। वह तुम्हारे बगैर बड़ी बेचैन है...."

"बेचैनी तो यहाँ भी कम नहीं खलील !..."

"मरहबा ! दोनों तरफ बराबर आग लगने से ही तो लपटें निकलती हैं—मुझे खुशी हुई यह देखकर कि तुम अच्छी तरह हो। तुम्हें भी पपिहा से कुछ कहना है ?...."

"हाँ, कह देना कि मैं कल यहाँ से जा रहा हूँ। पढ़ाई खत्म होते ही साल भर बाद मैं यहाँ आऊँगा और उसे ले चलूँगा। कोई ताकत मुझे रोक नहीं सकती...तब तक वह मेरा इंतजार करे..."

"कह दूँगा....तुम्हारे साथ यह खलील भी है, जरा ख्याल रखना जानेमन ! शहर की गलियों को सूँघ कर कहीं गाँव के फूलों की खुशबू भूल मत जाना...तो चलता हूँ अब..."

अब शाम होने को आई। सूरज का गोला दिन भर तेजी से चमकने के बाद पश्चिमीय आकाश पर अपनी फीकी-सी रोशनी लुटा रहा है। कलम नीचे रख दी है मैंने और दावात का ढक्कन बन्द कर दिया है। बड़ी थकावट आ गई है दिमाग में। बदन का एक-एक हिस्सा दर्द से भर गया है। हाथ की उँगलियाँ कलम पकड़े-पकड़े सड़े घाव की तरह पीड़ा दे रही हैं।

चरपाई पर लम्बा-लम्बा लेट जाता हूँ मैं। शरीर के सभी अंग ढीले कर देता हूँ ताकि थोड़ा-सा आराम मिल जाय। आँखें भी बन्द कर लेता हूँ।

आँखें खुली थीं तो शाम का धुँधलका देख रही थीं मगर बन्द होते ही विगत जीवन की घटनायें देखने लगीं।

कुछ ही साल पहले की तो बात है। पिताजी मरे थे तो काफी धन छोड़ गये थे। कितने आराम से दिन बीतते थे कि पूछिये मत।

पड़े-पड़े सोना, बैठे-बैठे लिखना और खाना—बस, यही काम थे मेरे लिये।

मगर यह सच है कि कलम का पुजारी रुपयों की महत्ता क्या जाने? मैं भी आज अपना सारा पैतृक धन लुटाकर गरीब बन गया हूँ।

आवश्यकता के समय हाथ फैलाने पर मैंने कभी किसी को इनकार नहीं किया और एक बार मुझसे धन ले जाकर फिर कोई उसे लौटाने नहीं आया।

धन तो चलती-फिरती माया है न! कब तक मेरे पास रहती? और यही तो मेरी गरीबी की कहानी है।

आज सब कुछ खोकर मैं अभाव में पिस रहा हूँ और कभी-कभी विगत सुखों को याद करके अपनी नादानी पर रो भी लेता हूँ।

हाँ! तो उस समय मेरे पास पैसा था, इतना नहीं कि पैर जमीन छोड़कर चलने पर मजबूर हों मगर पैसा काफी था।

नई-नई शादी हुई थी। देवीजी एकदम जवान, पढ़ी-लिखी, अप-टू-डेट! आज की देवीजी और उस समय की देवीजी में अन्तर है। विश्वास ही नहीं होता कि बड़े घर की बड़ी लड़की फैशन की खब्त छोड़कर आज कैसे मेरा साथ दे रही है।

उसी समय की बात है, चटपटी, मजेदार!

● ●

जाड़े का सबेरा, ओस से भीगी हुई रात का दामन पकड़ कर सिसक रहा है। कहता है, बड़ा जाड़ा है, अपनी गोद में छिपा

लो मुझे। रात बिगड़ कर कहती है, जाकर सूरज का मुँह देखो, हमेशा माँ की ही गोद में नहीं चढ़ा करते।

अभी पाँच बजे हैं। मैं चारपाई पर पड़ा हुआ हूँ। रूई की रजाई बदन से लिपट-सिमट कर प्रेयसी का मादक शरीर बन गई है। मेरे सर और पैर ठिठुर कर इकट्ठे हो गए हैं।

नींद अभी पूरी नहीं खुली है। आँखों की पलकों को जैसे किसी ने काँटा लगा कर सी दिया हो—उठाये नहीं उठतीं। आधा जग रहा हूँ और आधी नींद में सपने देख रहा हूँ। श्रीमती जी को टटोलता हूँ परन्तु उनका कोमल शरीर हमारे बगल में नहीं है। शायद उठ गई हैं, घर का काम-धन्धा कर रही होंगी। तभी तो इतना जाड़ा है।

भाई! सजीव शरीर की गर्मी और होती है तथा निर्जीव रूई की और।

मगर इतने सबेरे-सबेरे उठ जाना भी क्या अच्छा है? पढ़ी-लिखी औरतें तो दिन चढ़े तक सोती हैं और घर का काम-धन्धा भी नहीं करतीं। मगर मेरी इन श्रीमती जी की बात ही अलग है।

कई बार कहा कि कम से कम जाड़े के मौसम में तो देर से उठा करो, जाड़े की रात सबेरे-सबेरे ही तो गर्मी चाहती है। परन्तु कौन सुनता है? कहती हैं कि सबेरे उठ जाने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है।

रजाई हटाकर जरा मुँह खोलता हूँ तो बाहर का सारा जाड़ा भीतर घुस आना चाहता है। मैं पुनः मुँह ढँक लेता हूँ।

पड़ोस के धोबी का जवान गदहा इतने जोर से चीपों-चीपों करने लगा है कि रजाई से बँधे हुए कान तक फटे जा रहे हैं। इन कम्बख्तों को भी रात भर नींद नहीं आती क्या?

श्रीमती जी कभी-कभी कहा करती हैं—'तुम तो ऐसे मुहल्ले में

बसे हो, जहाँ सबेरा घंटा-घड़ियाल के बदले गर्दभ-स्वर सुनाई पड़ता है।"

"भाई! मैं तो यहाँ जन्म से ही रहता हूँ। यह धोबी का गदहा तो अभी तीन साल हुए आया है। पहले सब कुछ ठीक था—" मुझे भी कहना पड़ता है।

सोचते-सोचते कुछ झपकी सी आ जाती है। जाने कितनी देर बाद चैतन्य होता हूँ तो रजाई के भीतर से बाहर की चहल-पहल का अन्दाजा लग जाता है!

लगता है, जैसे एकदम सबेरा हो गया है। जाड़े का सबेरा भी कैसा ठिठुरता-सिकुड़ता-सिमटता-सा होता है। हम जैसे काहिलों से तो रजाई छोड़ते ही नहीं बनती।

उधर बगलवाले पुजारी बाबा "हरे राम, हरे राम" करते-करते कुएँ पर स्नान कर रहे हैं। वृद्ध हो चले हैं परन्तु जवानी की फुर्ती अब तक कायम है। सबेरे स्नान करते हैं और तिलक मुद्रा धारण करके शिवालय में जा बैठते हैं। देवता का प्रसाद लेने और अपना पाप धोने के लिए कितनी ही युवतियाँ पहुँच जाती हैं पुजारी बाबा के पास। फिर तो बूढ़े बाबा का आँख लड़ाना देख लीजिये—सफेद भौंहों के अन्दर से तिरछी कटारी फेंकते हैं—यही तो है जवानी!

अब तो उठने का जी चाह रहा है। मुँह खोल कर देखता हूँ, तो कमरे में अब तक अन्धकार ही है। न दरवाजा खुला है और न तो खिड़की ही। देवीजी शायद अब तक अवकाश नहीं पा सकी हैं!

अभी पौने दस महीने हुए हैं मेरी शादी के। पढ़ी-लिखी खूबसूरत हैं अपनी 'वे'—बातचीत तो इस अदा के साथ करती हैं कि सरेआम मुँह चूम लेन का जी चाहता है। हम जैसे तबियत-दार आदमी को चीज भी 'एक' ही मिली है कि पूछिये मत!

सुहागरात की एक घटना सुना दूँ आपको। जब मैं शयन-गृह में पहुँचा तो वे मुँह खोले कुर्सी पर बैठी हुई पत्रिका पढ़ रही थीं। मुझे देखकर उठ खड़ी हुईं और निर्भीक भाव से मुस्कुरा कर नमस्ते किया।

मैं समझ गया कि 'झिझक' उनमें नहीं है। अतः हँसकर बोला—"क्यों भाई! सुना है, यहाँ कहीं चाँद उतरा है।"

तुरन्त ही जवाब दिया उन्होंने—"जी हाँ!....आईना लाऊँ क्या?"

"क्यों?"

"चाँद का दर्शन कर लें आप" बोलीं वे।

"चाँद को तो मैं सामने ही देख रहा हूँ—" मैंने कहा।

"जी नहीं! आप चाँद की किरण को देख रहे हैं—पहले ही दिन धोखा मत खाइये।"

और जीवनारम्भ में उस पहले दिन ही मैं उनसे 'मात' हो गया। आज भी 'मात' ही हूँ। मेरी नकेल उनके हाथों में है।

लीजिये मुझे देर तक सोते देखकर वे जगाने आ रही हैं। मैंने रजाई से मुँह ढँककर सोने का बहाना कर लिया है। उनकी साड़ी की सरसराहट मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ।

"उठो भी—" वे मुझे झकझोर रही हैं, परन्तु मैं मुरदे की तरह अचल पड़ा हूँ।

वे पुनः कहती हैं—"रात भर तक रजाई से लिपटकर जी नहीं भरा क्या? मगर अब उजाला हो गया है। छोड़ दो उसे—लोग देखेंगे तो क्या कहेंगे...."

"...." मैं फिर भी चुप।

"ठहरो, मैं पानी लाती हूँ—" कहकर वे जाने लगती हैं तो मैं एकदम घबड़ा कर उठ बैठता हूँ।

कहता हूँ—"अरे भई! सुनो तो....मुझे प्यास नहीं लगी है। पानी रहने दो।"

वे घूमकर मुस्करा उठती हैं और मेरी चारपाई के बिल्कुल पास आ खड़ी होती हैं। मैं लपककर उनका हाथ पकड़ लेता हूँ। वे जान बूझकर नहीं सम्हलतीं और मेरी गोद में इस तरह से गिर पड़ती हैं कि क्या कहूँ? दीवारों तक का सीना धड़कने लगता है, चुम्बन की मादक ध्वनियाँ सुनकर।

"अब तो नाश्ता हो चुका न, छोड़ो मुझे" वे छिटककर दूर जा पड़ती हैं। और पूरब की ओर की खिड़की खोल देती हैं। सूरज की एक सुनहली किरण मेरे ऊपर आकर लोटने लगती है।

"जरा उस किरण को उठाकर अपने कलेजे से लगा लो, बेचारी बड़ी बेताबी से तुम्हारे ऊपर लोट रही है" वे हँसकर कहती हैं—

"उसे कलेजे से लगा लूँ, तब तो तुम्हें डाह होने लगेगी।'

"कभी नहीं जी, हम दोनों नारी हैं, और एक नारी दूसरी नारी की मनोवेदना समझ सकती है, अच्छी तरह।" कहकर वे सामने का दरवाजा भी खोल देती हैं और स्वयं चाय बनाने चली जाती हैं। चारपाई पर उठ कर बैठते ही मैं चाय पीने का आदी हूँ।

यह खुला हुआ दरवाजा ठीक सड़क के किनारे है। सड़क पर एक-दो आ-जा रहे हैं। मैं चारपाई पर बैठा हुआ सब देख रहा हूँ।

वह देखिये! बदन पर सोलह साल की जवानी लादे, कमर पर हजार लहरों की अदा लिये, हाथ में झाड़ू पकड़ खर्र-खर्र सड़क बुहारती हुई आ पहुँची है चम्पा। अभी कुछ दूर पर है। मेहतर की छोरी है। शाहजहाँ के पास होती, तो दूसरा ताजमहल बन जाता। मेहतरों के बीच है तो सड़क बुहारती है, लोगों के बोली-ठट्ठे सुनती है।

लड़कपन से ही जानता हूँ इसे। आज तो जवानी के तमाचे

खाकर 'भरी बोतल' जैसी मादक बन गई है। लड़कपन में भी शोख़ तो थी ही।

हाथ में गंगाजल लिये दीनानाथ शास्त्री आ रहे हैं। चम्पा के पास पहुँचकर ठिठक गये हैं। धीमा स्वर मैं यहाँ से सुन रहा हूँ—

"चम्पारानी! एकाध दिन इस कलेजे में भी सुगन्धि भर दो। जनम सुफल कर दूँगा तुम्हारा..." शास्त्रीजी हैं।

चम्पा ने सड़क बुहारना बन्द कर दिया है। झुकी हुई कमर को सीधी करके बोली है—"पहले पंडितानी का तो जनम सुफल करलो पंडित, फिर मेरा करना....सीधे रस्ते जाओ, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता—हाँ!"

शास्त्रीजी जाने लगे हैं। अब चम्पा पास आ गई है। मेरे दरवाजे की ओर देखती है और उसे खुला पाकर दौड़ी आती है। सामने चबूतरे पर बैठकर सुस्ताने लगती है।

कहती है—"सोकर उठ गये राजा! इतनी जल्दी?"

अब मैं अपने नाम को क्या करूँ? मेरा पूरा नाम तो राजाराम है, परन्तु जब कोई शोखी में भर कर मुझे केवल 'राजा' पुकारे, तो आप ही बताइये, मैं जियूँ मरूँ या क़ुर्बान जाऊँ?

"शास्त्री जी क्या कह रहे थे चम्पा?"

"उसके मुँह में कीड़े पड़ गये हैं राजा बाबू! कहेगा क्या मुआ?"

हँसने लगी है चम्पा! मैं विभोर दृष्टि से एकटक उसे देख रहा हूँ। देखना पाप तो है नहीं। यों चाहता हूँ मैं केवल अपनी देवी जी को, परन्तु देखने को तो सबको देख लेता हूँ।

उफ! उसने एक मादक अँगड़ाई ली है। चम्पा ने अँगड़ाई ली है। एक-एक पंखड़ी छितरा कर रह गई है, बदन के रेशे-रेशे से जवानी छलक पड़ी है। मैं जीता जा रहा हूँ, मरता जा रहा हूँ।

"यह झाड़ू लगाने का काम तुम्हें पसन्द है चम्पा?" पूछता हूँ मैं।

कहती है वह—"नहीं तो ! कहीं ले चलो मुझे अपने साथ, तो छूट जाय यह काम। अभी आज सबेरे पुजारी बाबा कह रहे थे—चम्पारानी ! ज्यादा झुक कर झाड़ू न दिया करो, नहीं तो बुढ़ापे में कमर करकने लगेगी—यही बात तुम भी कहना चाहते हो क्या राजा ?"

तब तक आ पहुँचती हैं देवी जी, हाथ में चाय का प्याला पकड़े। चम्पा को देखती हैं तो जाने कैसी घृणा-सी छा जाती है उनकी आकृति पर। और चम्पा भी देवी जी को देखकर चल देती है।

देवी जी कहती हैं—"यह मेहतरानी क्या कह रही थी ?"

"कुछ तो नहीं—"

"छिपाते क्यों हो ? इतना घुल-मिल कर बातें तो कर रहे थे-"

देखा आपने। स्त्री के मुख से यह ईर्ष्या बोल रही थी, एक पढ़ी-लिखी स्त्री के मुख से। अभी थोड़ी ही देर पहले देवी जी कह रही थीं कि एक नारी दूसरी नारी से ईर्ष्या नहीं करती।

देवीजी ने प्याला मेरे हाथों में पकड़ा दिया है और छनकती हुई चली गई हैं। मेरा भी दिल जाने कैसा हो गया है, उनकी बातों पर, सो चुपचाप चाय पीने लगता हूँ।

गली भर का कूड़ा लाकर चम्पा मेरे दरवाजे के सामने इकट्ठा करने लगती है। मैं अनायास ही बिगड़ कर कहता हूँ—"देख चम्पा ! कल से यहाँ कूड़ा मत लगाया कर...."

सुन कर चम्पा रोने-रोने-सी हो गई है। कहती है—"सभी तो कहते हैं कि कूड़ा यहाँ मत रखा कर...फिर अकेली जान इतनी जानों का कूड़ा कहाँ तक लादती फिरे राजा !...."

वह अपनी आँखें पोछने लगी है। मैं पानी-सा बह निकलता हूँ। कहता हूँ—"अच्छा रो मत तू ! जहाँ जी चाहे रखा कर कूड़ा...."

मैंने चाय पीकर प्याला नीचे रख दिया है। अब तक आती-जाती हुई चम्पा को देख रहा हूँ। सोच रहा हूँ कि कीचड़ में का कमल देखें किस दिन देवता के सिर पर चढ़ता है!

चम्पा ने कूड़ा इकट्ठा कर लिया है और जमीन पर बैठ कर कूड़े में से जाने क्या खोज रही है। यह उसका नित्य का काम है। कभी उससे पूछा नहीं कि वह कूड़े-कर्कट में से किस हीरे की तलाश करती है।

"चम्पा!...." पुकारता हूं मैं, धीरे से, ताकि देवी जी न सुन लें। "आई राजा!...." मगर वह शैतान तो इतने जोर से बोली है कि सारा मुहल्ला कान खड़ा कर ले।

और आ गई छलकती हुई सामने।

"क्या है राजा बाबू?"—

"कूड़े में से क्या खोजा करती है रोज?"

"अरे बाबू! कभी-कभी कूड़े से लिपटे हुए हीरे मिल जाते हैं सरकार!"

कहकर वह पुनः अँगड़ाई लेने लगती है! मैं अपना हाथ कलेजे पर रख लेता हूँ कि जोरदार धड़कन से कहीं छाती न फट जाय।

तभी देवीजी आ पहुँचती हैं। हँसती-खेलती चम्पा को तथा कलेजे पर हाथ रखे मुझे देखती हैं, तो 'साड़ी से बाहर' हो जाती हैं।

चम्पा तो उनकी सूरत देखते ही खिसक जाती है। वे लगती हैं मुझे डाँटने—"मेहतरानी ही प्यारी थी, तो मुझे क्यों बाँध लाये?...."

तीन-चार दिन बाद—

देवीजी मेरे सामने घबड़ाई हुई खड़ी हैं—"मेरे इयरिंग्स..."

"क्या हुए?...."

"जाने कहाँ खो गये दोनों–इतना खोजा, पता ही नहीं लगता।"

"चलो छुट्टी हुई, दूसरा बन जायगा...." कहता हूँ मैं।

और उसी के दूसरे दिन आश्चर्य से देखता हूँ तो देवीजी के इयरिंग चम्पा रानी के कानो में शोभा पा रहे हैं। मैं हैरान रह जाता हूँ।

पूछता हूँ चम्पा से—"ये इयरिंग्स कहाँ पा गई चम्पा ?"

"ये कूड़े से निकले हुए हीरे हैं राजा !....जौहरी हूँ न, देखा, उठा लिया...."

देवीजी चाय लेकर आ गई हैं। चम्पा की ओर वे आग-भरी दृष्टि से देख रही हैं कि उनकी नजर इयरिंग्स पर पड़ जाती है। वे चम्पा की ओर डाकगाड़ी की तरह झपटती हैं और उन मासूम कानों से दोनों के दोनों इयरिंग्स सर्राटे से खींच लेती हैं। दर्द से चम्पा चीखी भी नहीं है। कान फट गये हैं, खून बह रहा है। क्या कहे चम्पा, किससे कहे ?

"तो यह बात है ?"—वे पैर पटककर बोल रही हैं—"इसे ही देना था, तो मुझसे माँग लेते—चुराने की क्या जरूरत थी ?"

वे समझती हैं कि मैंने इयरिंग चुरा कर चम्पा को दे दिये हैं। अपनी गफलत को तो न कहेंगी कि कूड़े में भर कर उन्हें सड़क पर फेंक आई थी।

"अब बर्दास्त के बाहर हो गया है—मैं इतना नहीं सह सकती"—कहती हुई वे अपने कमरे में चली गई हैं, इयरिंग्स वहीं पटक कर !

बहता हुआ खून लिए चम्पा भी चुप है और धड़कता हुआ दिल लिए मैं भी ! उनके कमरे से खटपट की आवाज आ रही है।

वह देखिये ! हाथ में छोटा-सा सूटकेस उठाये, पैरों में चप्पल डाले, वे दूसरे दरवाजे से सड़क पर आ गई हैं। शायद रूठ कर मायके जा रहीं हैं। बीसवीं सदी की नारी हैं। पढ़ी-लिखी हैं—सो अकेले मायके तो जा ही सकती हैं।

एक ताँगा रोका है उन्होंने। उस पर बैठ गई हैं। तांगेवाले ने चाबुक से घोड़े की पीठ ऐसी सहलाई है कि मेरा दिल तक कराह उठा है।

ताँगा जा रहा है....जा रहा है...मैंने आँखें बन्द कर ली हैं, फिर भी देख रहा हूँ। स्टेशन पर तांगा रुका है, गाड़ी आ गई है, वे बैठीं हैं और....और....यह सीटी। सीटी की आवाज लम्बी बर्छी बनकर मेरा कलेजा चाक कर गई है। वैकल्य से भर कर मैं आँख खोल देता हूँ। चम्पा खड़ी है। जैसे तब खड़ी थी, वैसे ही अब भी। बड़ी करुणा उभर आती है।

उठता हूँ, बाहरी दरवाजा भीतर से बन्द कर लेता हूँ, ताकि कोई देख न ले। चम्पा का हाथ पकड़ कर अपने पास चारपाई पर बैठा लेता हूँ। सहानुभूति पाकर वह कुछ बोलती नहीं, सिसकने लगती है। मैं उसके कानों का खून और आँखों के आँसू पोंछ देता हूँ। कहता हूँ—"जाने दो चम्पा! वे पढ़ी-लिखी हैं—अकेली मायके जा सकती हैं। ले, ये इयरिंग्स तू ही पहना कर..."

चम्पा की कली मेरे सूखे सीने से सट गई है। और...

और आज कहाँ मैं, कहाँ चम्पा! औरतों की जवानी तो जैसे पानी का बुलबुला, अभी देख रहे हैं—अभी गायब!

आँखें खोल देता हूँ। कलम, दावात और कापी हाथ में लेकर कमरे में मेज पर आ बैठता हूँ। देवीजी को पुकारता हूँ—"जरा लालटेन तो दे जाना भाई!...."

वे दूसरे कमरे से बोलती हैं—"अभी लिये आती हूँ..."

दो मिनट बाद टूटी मेज पर छोटी लालटेन की धुँधली रोशनी टिमटिमा उठी है। हाथ की उँगलियाँ कलम उठा लेती हैं।

गाँव की हौली—शराबखाना ! टूटे-फूटे घर में पीनेवाले देहातियों का अजीब जमघट, हो-हल्ला, चिल्ल-पों, तू तू-मै मै, गाली-गलौज ! खून बहाकर पैदा किये गये पैसों की फेंका-फेंकी । धन का इतना दुरुपयोग-अपमान । फिर भी मजदूर चिल्लाते हैं कि हम गरीब हैं, हमें लूटा जा रहा है । खुद लुटानेवालों को लोग लूटें न तो क्या करें ?

टिन के पीपों में शराब भरी पड़ी है । देशी शराब, कि एक घूँट पीते ही कलेजे की नस-नस नशीली हो उठे । मिट्टी के कुल्हड़ भरे जा रहे हैं । छल-छल की आवाज भी हो रही है । तांबे के पैसे भी ठनक रहे हैं । कलार साहब की कलवरिया गुलजार है शराब से, शराबियों से और पैसों से ।

"अबे ओ जुम्मन के भतीजे ! इधर आ, इधर...."

"ओ हो रसूल राजा तुम ?...खुदा कसम, खूब पीते हो अँधेरे कोने में बैठकर...जियो सरकार जियो !...देखो, उस्मान चचा भी आज आस्मान से टपक पड़े हैं...."

"क्या खूब !...." नशे में बुत्त रसूल ठठाकर हँसने लगा ।

"खूब रसूल भैया ! खूब निपटेगी, जब मिल बैठेंगे दीवाने तीन !....है न उस्मान चचा !...." जुम्मन ने कहा ।

"अबे, तेरे बाप को भी कोई चचा था, या मुझे ही मुफ्त में चचा बनाये जा रहा है"—उस्मान ने कहा—"न पिलाना, न खिलाना, बस चचा की दुम बनकर लटक गये....देखा न रसूल तुमने ?"

"तो अभी तुम लोगों ने पी नहीं है ?"—रसूल ने पूछा ।

"तुम्हारी जान की कसम रसूल राजा ! एक कतरा भी पिया

हो तो क़त्ल कर सकते हो—तुम्हारे लिये साढ़े सात खून माफ़ !.... बोलो, कुछ पिलाते हो आज ?...."

"क्यों नहीं...." रसूल ने कहा, फिर पुकारा—"अरे ओ चिथरु ! तीन पौआ...."

"भाई जुम्मन !"—उस्मान बोला—"रसूल राजा की मिहरबानी से पीने का इन्तजाम हो गया। अब बैठोगे भी, या खड़े-खड़े ही पैर की कसरत करते रहोगे ?"

"बैठ यार, बैठ न ! मजे से पी"—जुम्मन बोला बैठता हुआ—"खुश रहो रसूल भाई ! खुदा तुम्हें क़यामत में भी दो-चार कुल्हड़ बख्शे...."

हौली के नौकर चिथरु ने तीन कुल्हड़ सामने लाकर रख दिये।

"लो भाई ! अब तो बिस्मिल्लाह करो"—कुल्हड़ उठाकर होठों से लगाते हुए कहा उस्मान ने।

जुम्मन ने भी एक घूँट पिया।

बोला—"ईमान कसम रसूल राजा ! आज का कुल्हड़ क्या है, एकदम आग का शोला है .. एक घूँट पीते ही वह मजा आ गया कि पूछो मत...मगर..."

"वाह-वाह ! मगर पर रुक क्यों गये जुम्मन मियाँ ! कह चलो न कि सिर्फ जरा चटनी की कसर रह गई है...."

"वल्लाह ! बिल्कुल ठीक कहा तुमने उस्मान !....क्यों रसूल भैया ! जरा सी चटनी भी हो जाय, तो क्या बात। रात के वक्त भी सूरज नजर आ जाय...."

"बोलो क्या मगाऊँ ?"—झूमते हुए रसूल ने कहा—"प्याज की पकौड़ी ?"

"अजी, छोड़ो भी रसूल राजा आलू प्याज की पकौड़ी को—यह काफिरों को ही मुबारक हो—हमें तो कलिया चाहिये, गरमा-गरम शोरबेदार !"

"ठीक कहते हो जुम्मन तुम"—उस्मान ने कहा—"हड्डी तोड़ने वालों के दाँत घास-पात की पकौड़ी खाकर क्या करेंगे..."

"लो भाई ! कलिया ही सही...." रसूल ने कहा।

कलिया आई। शराब का दौर चला तेजी से। तीनों पीते रहे, झूमते रहे, बक-झक करते रहे।

"अबे जुम्मन !"—उस्मान ने नशे में पुकारा—"तेरी आँखें तो कम्बख्त आस्मान पर चढ़ी जा रही हैं मारे नशे के..."

"अबे अपनी हालत तो देख...बड़ा आया है तीस मार खाँ बनकर...."

"तीसमार खाँ तो सिर्फ तेरे बाप ही थे...."

"और तेरे बाप क्या घास उखाड़ा करते थे ?...."

"बाप-दादों के सर पर क्यों चढ़ा जाता है बे उल्लू के पट्ठे—"

"उल्लू का पट्ठा तू !..."

"तू लोमड़ी की दुम !...."

"तू गधे का बच्चा !...."

"तू सुअर का पिल्ला !..."

"तेरी ऐसी की तैसी"—जुम्मन उठकर कुर्ते की आस्तीन चढ़ाता हुआ बोला—"उस्मान के नाती ! तुझे लड़ने का हौसला है क्या ?"

"अबे तुझसे डरता ही कौन है—आ न...." उस्मान भी उठ खड़ा हुआ।

"यह ले !...." एक तमाचा !

"तू भी ले ?...." एक घूँसा।

और दोनों आपस में भिड़ गये। उठा-पटकी होने लगी। मुँह से गालियाँ इतनी तेजी से निकलने लगीं कि लाउडस्पीकर भी मात।

रसूल बड़ी देर तक बैठा देखता रहा, फिर उठकर दोनों लड़ने

वालों का गला जा पकड़ा। बोला—"अरे बेवकूफों, आपस में ही लड़ने लगे तुम ?...."

"मुझे छोड़ो रसूल भाई ! यह उस्मान का बच्चा मुझे समझता क्या है ?"

"अबे उस्मान का बच्चा होगा तेरा बाप !" उस्मान ने कहा।

रसूल ने अपने वजनी हाथों से दोनों के मुँह पर दो-दो तमाचे जड़ दिये, तब दोनों का नशा उखड़ा। दोनों ने लड़ना बन्द कर दिया और चुपचाप बैठ गये।

"वाह रसूल भैया !"—जुम्मन बोला—"कुरान कसम ! ऐसा तमाचा जड़ते हो तुम, कि रात के वक्त तारे नजर आने लगते हैं....क्यों उस्मान मियाँ, ठीक है न ?"

"बिल्कुल ठीक जुम्मन भाई ! तमाचा क्या है, बिजली का सोंटा है, समझ लो !....तुम्हें कहीं चोट तो नहीं लगी जुम्मन ! अल्लाह जानता है, मैंने जान-बूझकर तुम्हें नहीं पटका था—"

"अबे, पटका तो था मैंने तुझे"—जुम्मन बिगड़ कर बोला—"चोट लगे तुझे, तेरे बाप को, तेरी नानी को..."

"देखो रसूल भैया ! यह बेइमान फिर गरम होने लगा है" उस्मान ने कहा—"हुक्म दो, तो साले की नाक तोड़ दूँ आज..."

"तेरी नाक तो पहले से ही गायब है—तू क्या मेरी नाक तोड़ेगा ?"

"तुम लोग चुपचाप बैठते हो कि नहीं ?"—रसूल गरज कर बोला।

"कुरान कसम, बिल्कुल चुपचाप बैठा हूँ रसूल भाई !....लो !....तुम भी चुप हो जाओ उस्मान मियाँ ! रसूल भैया बिगड़ गये हैं...."

"अबे रसूल की ऐसी-तैसी....यानी....नहीं-नहीं, बोलने की ऐसी-तैसी—अब जो बोले, वह गधा !...."

"जरा-सा पीकर तुम लोग आस्मान पर चढ़ जाते हो ?"—रसूल ने कहा।

"पूछो मत रसूल भैया !"—जुम्मन बोला—"यह शराब ऐसी चीज है कि पीते ही कुरान कसम इतना लड़ने का जी चाहता है कि बदन की रगें फटने लगती हैं...."

"और पियोगे ?..." रसूल ने पूछा।

"अपनी जान की कसम ! अब मत पिलाओ रसूल भाई ! एक कतरा भी गले के नीचे उतरा कि बदन में आग लग जायगी... क्यों जुम्मन ?"

"दुरुस्त ! और लपटें भी निकलने लगेंगी"—जुम्मन ने कहा।

रसूल ने अपने लिये एक कुल्हड़ और मँगवाया और धीरे-धीरे पीने लगा।

"रसूल भैया !...." जुम्मन ने धीरे से कहा।

"क्या है ?"

"एक बात कहूँ ?...."

"बेहतर है...." बोला रसूल।

"देखो, बुरा न मानना ! कुरान कसम ! अगर तुम बुरा मान गये, तो हम बिना मारे ही मर जायँगे..."

"अबे तू कह भी तो—"

"पपिहरा जो है न रसूल भाई !....यानी तुम्हारी पपिहरा जो है न...."

"क्या हुआ उसे ?"

"माफ करो रसूल भैया ! उसे आजकल पर निकल रहे हैं... पर, यानी उड़ने वाले पंख !...."

"क्या मतलब है तुम्हारा ?"—रसूल गम्भीर आवाज में बोला।

"पपिहरा पर पहरा लगा दो रसूल भैया ! नहीं तो किसी दिन फुर्र...."

"यानी उड़ जायगी"—कह कर उस्मान हँसने लगा।

रसूल की लाल आँखें चमकने लगीं, भयानक गति से। जुम्मन और उस्मान डर गये। जुम्मन गिड़गिड़ा कर बोला—"मैं बिल्कुल सच कह रहा हूँ। चींटी को मरते वक्त पंख निकलते हैं, मगर पपिहरा को जवानी में ही पंख निकल आये हैं। तुम्हें होशियार हो जाना चाहिये....क्यों उस्मान?"

"ठीक है"—उस्मान बोला—"हमने उसे एक दिन कैलाश के दोस्त के साथ तालाब पर देखा था...और आज....तो..."

"आज तो वह खलील के साथ तालाब पर बैठी घुल-घुल कर बातें कर रही थी—" जुम्मन ने कहा—"कुरान कसम! पंख पूरे निकल आये हैं, अब उड़ने भर की देर है...."

सुन रहा था रसूल।

उसने हाथ का कुल्हड़ जमीन पर पटक दिया और उठ खड़ा हुआ। नशे से दिमाग भन्ना रहा था। पैर लड़खड़ा रहे थे।

उसने अपना बरछा उठाया और जाने लगा।

"कहाँ चल दिये रसूल भाई?—" जुम्मन ने पूछा।

"पपिहरा के पंख काटने, ताकि वह उड़ न सके...." रसूल लपक कर बाहर चला गया।

उसके जाते ही जुम्मन और उस्मान ठठाकर हँस पड़े।

जुम्मन बोला—"कैसा चंग पर चढ़ाया बेटा को...."

"इन्सान कसम जुम्मन? तुम चिड़िया का पंख अच्छी तरह पहचानते हो..."

रात काफी बीत चली थी।

पपिहरा रसूल का इन्तजार करते-करते सो गई थी। और सपने में भी उसके आँसू सूखे नहीं थे शायद।

वह रो रही थी। नींद में हिचकियाँ ले रही थी! छातियों का उठना बैठना दीवट के धुँधले प्रकाश में दिखाई पड़ रहा था। वह

खलील से सुन चुकी थी कि दीपक कल गाँव छोड़ कर चला जायगा, फिर जाने कब उससे भेंट हो ।

यही था उसके दुख का कारण, जो सपनों की दुनिया में भी उसे चैन से नहीं रहने दे रहा था ।

पपिहरा आज अन्दर से दरवाजा बन्द करके सोई थी ।

"पपिहरा !..." किसी ने पुकारा ।

पपिहरा चौंक कर उठ बैठी ! बोली—"आई भैया !...."

उसने दरवाजा खोला ।

अन्दर आते ही रसूल ने उसे पीटना शुरू कर दिया । बोला—"आज तेरी जान लेकर छोड़ूँगा शैतान कहीं की...."

पपिहरा रोती रही, मगर चीखी-चिल्लाई नहीं ।

"खलील के साथ आज तू तालाब पर क्या कर रही थी ?.... बोल !...बोल...."

हाथ अविराम गति से प्रहार कर रहे थे । मगर बेकस पपिहरा मूक थी ।

रसूल उसका भाई नहीं है, नहीं तो क्या एक भाई इतनी बेदर्दी के साथ बहन को पीट सकता है । बेचारी पपिहरा क्या करे- किसे पुकारे ?

"अरे हरामी ! उसे क्यों मार रहा है ? क्या उसकी जान ही ले लेगा ?"—बसीदा थी, लाठी लिये दरवाजे पर खड़ी थी ।

रसूल के हाथ रुक गये । पपिहरा दौड़ कर बुढ़िया के बदन से लिपट गई ।

"या खुदा ! पीकर यह बेईमान हैवान बन जाता है"—बसीदा ने पपिहरा का सर सहलाते हुए कहा—"फूल-सी बच्ची को तोड़ कर रख दिया....इसके मारे सोना हराम !....क्यों मार रहा था इसे ?....बोलता क्यों नहीं ?....तेरा हाथ सड़ कर गिर पड़ेगा किसी दिन...."

"दादी !"—रसूल बोला—"यह दिन पर दिन शैतान होती जा रही है। मेरे मुँह पर कालिख लगा रही है—"

"अरे हरामी के पिल्ले ! तेरे मुँह पर तो खुदा ने ही खुद कालिख लगा दी है, उस पर कोई दूसरी कालिख क्या चढ़ेगी ? तू इतनी बेदर्दी के साथ मार क्यों रहा था इसे ?"

"इससे पूछो दादी, कि यह तालाब के किनारे खलील के साथ क्या कर रही थी ?"

"तेरा मुँह झौंस रहीं थी, और क्या कर रही थी"—बसीदा बिगड़ कर बोली—"तुझमें रहम तो है ही नहीं, अक्ल भी नदारद !...सुन रे छोकरे ! इसे तो मैंने ही खलील के साथ तालाब पर भेजा था। यह मनमारे बैठी थी, इसलिये भेज दिया। तू अपने ही जैसा सबको समझता है ? खलील इसका साथी है। दोनों को साथ-साथ देखकर तेरे दीदे क्यों फूटने लगते हैं ?....चल री बच्ची ! इस हरामी का साथ छोड़—चल मेरे साथ सो रह !...."

बुढ़िया पपिहरा को अपने साथ लिवा ले गई।

रसूल बड़ी देर तक वहीं बिना हिले-डुले खड़ा रहा। पपिहरा को मारते-मारते उसके हाथ दर्द करने लगे थे और दिल भी कराह रहा था उस मासूम पर प्रहार करके।

रसूल का दिमाग़ कुछ-कुछ ठिकाने आ गया था। उसे जुम्मन और उस्मान पर बेहद क्रोध आ रहा था। पपिहरा को खलील के साथ देख कर उनकी आँखें क्यों फूटीं ? वे तो लड़कपन से ही साथ-साथ खेलते आ रहे हैं।

रसूल का सारा बदन क्रोध से काँपने लगा। उसने बाहर निकल कर झोपड़ी का दरवाजा बन्द किया और पत्थर के चबूतरे पर सोने के लिये बढ़ा।

उसने देखा, दो आकृतियाँ चबूतरे पर बैठी हैं। रसूल को आते देख कर वे दोनों उठ खड़ी हुईं।

"पपिहरा के पंख काट चुके रसूल भाई ?"—जुम्मन की आवाज़ थी।

शायद आग लगाकर जुम्मन और उस्मान घर का जलना देखने आये थे।

"उसके पंख तो काट चुका"—रसूल बोला गरज कर—"अब तुम्हीं दोनों के पंख बच रहे हैं।"

जुम्मन और उस्मान भागने लगे, परन्तु रसूल ने उन्हें पकड़ ही लिया। उसके एक ही झटके से दोनों ज़मीन सूँघने लगे।

रसूल क्रोधित था और उसका सारा क्रोध उन दोनों की पीठ पर बरसने लगा लात-घूँसे बनकर।

वे दोनों अब भी नशे में थे।

जुम्मन चीख़ता हुआ बोला—"अब बस करो रसूल भैया! कुरान क़सम! हमारे पंख एकदम से कट चुके, देख लो, एक भी पंख जो बचा हो...."

"अबे जुम्मन!"—उस्मान बोला—"बस पड़े-पड़े लात-घूँसे खाता चल, घर का खाना बच जायगा आज। ईमान क़सम! क्या मीठी-मीठी लातें और रसदार घूँसे पड़ रहे हैं...अरे इधर नहीं—इधर मत मारो रसूल भैया! यह तो मेरा मुँह है...."

"क़सम कुरान की"—जुम्मन बोला—"इसके मुँह पर ही मारो रसूल भाई! इसकी जबान कैंची की तरह कचाकच चलती है...."

रसूल की एक लात जब उस्मान की पसली पर पड़ी, तो वह दर्द से चीख़ पड़ा—"ईमान कसम! गदहे भी क्या रसूल भाई की तरह लत्ती झाड़ सकेंगे..."

उनकी बहक सुनकर रसूल का क्रोध और भी भमक पड़ता था। अन्त में जब मारते-मारते वह थक गया, तो चबूतरे पर आ बैठा।

दोनों शराबी गर्द झाड़ते हुए उठ खड़े हुए।

जुम्मन बोला—"देखा न उस्मान। आखिर रसूल भाई थक

ही गये। इन्सान कोई मशीन थोड़े ही है कि दनादन पिस्टन चलाता जाय....चलो, अब रसूल भैया को थोड़ा आराम करने दो....”

दोनों आगे बढ़ चले।

रास्ते में जुम्मन से उस्मान ने कहा—“यार जुम्मन! इस गदहे के बच्चे रसूल ने तो लत्ती झाड़-झाड़कर अपना कचूमर ही निकाल डाला....”

“कसम कुरान की, इस गाँव में धोबी कम और गदहे ज्यादा हैं....अरे, उस्मान मियाँ! मेरे मुँह से लार बहने लगी ....”

उस्मान ने चाँद की रोशनी में उसका मुँह देखा तो चीख पड़ा—“अबे! लार नहीं, खून है....चाट ले, चाट....”

...और ओस चाट-चाट कर रात की रानी अपनी प्यास बुझाती रही। सलोना चाँद आस्मान की छाती पर मुस्कराता रहा।

सबेरा हुआ। रसूल सोया ही था। पपिहरा ने आकर उसे जगाया। वह आँख मलता उठ बैठा।

सामने से एक इक्का गुजरा। दीपक जा रहा था शहर को। बगल में कैलाश था। एक लठैत हाथ में दो-नली बन्दूक लिये इक्के-वान के पास बैठा था।

पपिहरा ने देखा। दीपक से उसकी आँखें चार हुईं। उसका हृदय हाहाकार कर उठा। जी में आया कि वह दौड़ कर दीपक के सीने से जा लगे और कहे—“शहर के छैला! गाँव की गोरी के सीने में आग लगा कर कहाँ चले जाते हो?—किया है क़त्ल जो मुझको जरा सी देर तो ठहरो, तड़पना देख लो मेरा लहू बहता है बहने दो..!”

मगर वह विवश थी। उसे किसी की याद में तड़पने का भी अधिकार नहीं था। एक नजर दीपक की ओर देख कर उसने नजरें

नीची कर लीं। दिल में जलती हुई विछोह की ज्वाला से बदन का खून पिघल कर पानी हो आँखों की राह गाल पर बह चला।

उसने ओढ़नी से आँसू पोंछ लिये, ताकि रसूल न देख सके।

इक्का आगे बढ़ गया। रसूल दाँत पीस रहा था।

बोला—"साँप की रखवाली के लिये बन्दूक रहती है हाथ में, और गाँव की इज्जत लुटाने के लिये शहर से भेड़िये बुलाये जाते हैं—तुफ़ है, ऐसी इन्सानियत पर...."

पपिहरा ने ये वाक्य सुने। उसका दिल रो रहा था। अनजाने में ही सिसकी उसके मुँह से निकल गई।

रसूल तेज स्वर में बोला—"पपिहा! रो रही है तू?"

"नहीं भैया!" बोली पपिहरा—"मैं हँस रही हूँ। बहन की दुनिया उजाड़ कर तुम भी चैन नहीं पाओगे रसूल भैया!...."

"शैतान बद्दुआ देती है"—रसूल बिगड़ा—"शर्मोहया को घोल कर पी गई है तू!"

"इन आँसुओं ने ही शर्मोहया को धोकर बहा दिया है"—पपिहरा न जाने किस साहस से बोली—"तुम मुझे सता लो जितना जी चाहे। तुम्हारी कोई सगी बहन होती तो शायद इतने जालिम न बनते तुम...."

पपिहरा के ये वाक्य साँप बनकर रसूल के कलेजे में रेंगने लगे। पत्थर का सीना भी चोट खाकर हाय-हाय कर उठा।

रसूल उठकर पपिहरा के पास आया और उसका हाथ पकड़ कर अपने पास चबूतरे पर ला बिठाया।

बोला—"पपिहा! तू मेरी बहन नहीं है, मैंने तुझे कभी बहन नहीं माना। हमेशा तुझे दुश्मन की बेटी समझा और तुझे अपने इन्तकाम के लिये पालता रहा। मगर खुदा जानता है कि मैंने तुझे अभी तक कोई तकलीफ नहीं होने दी। तुझे अपने जिस्म का एक हिस्सा समझा। मेरे दिल में तेरे लिये मुहब्बत है और मैं सच

कहता हूँ, तेरे न रहने पर मेरी दुनिया बीरान हो जायगी !...मुझे तू अपना हमदर्द समझ, भाई ही समझ ले तू मुझे....मगर खुदा के लिये तू उस शहरी साँप को भूल जा। मैं सब कुछ बरदाश्त कर कर सकता हूँ, मगर तेरी आँखों से दीपक के लिये आँसू नहीं देख सकता। मैं उससे नफरत करने लगा हूँ। दूसरे की बहू-बेटियों को राहेबद पर ले जानेवाले मेरी निगाह में बेहद जलील हैं। मैं उन्हें कभी माफ नहीं कर सकता....सुन ले, तेरे बाप ने मेरी बीवी को बरगलाया था, उसका इन्तकाम मैंने तुझे यहाँ लाकर ले लिया। मेरे सीने में भी इन्सान का दिल था, मगर तेरे जहरीले बाप ने मुझे हर इन्सान से नफरत करना सिखा दिया। मैं शराब को बुरा समझता था और आज उसे हर वक्त सीने से लगाये रहता हूँ। इन्सान का दिल एक ही लमहे में टूट जाता है और फिर कभी नहीं जुटता....मैंने तेरे बाप से ऐसा बदला लिया है कि वह भी अपने दिल में समझता होगा। याद रख ! मेरे दिल से रहम भाग चुकी है। अब तुझे ताजिन्दगी मेरे साथ रहना है—बहन बन कर ही रह। मगर तुझे मैं अपने से अलग नहीं कर सकता....तू अपनी आँखें पोंछ ले और बीती बातों को एकदम भूल जा। सपने कभी पूरे नहीं होते पपिहा ! रात के अँधेरे में देखा हुआ ख्वाब दिन के उजाले में गायब हो जाता है। तू पड़ी रह चुपचाप। मैं तेरे लिये कोई अच्छा सा दूल्हा ला दूँगा, जो यहीं हमारे साथ रहेगा....मैं बहुत तकलीफें उठा चुका हूँ और आज जो कुछ तू मुझमें देख रही है वह मजबूरी की निशानी के खौफनाक नजारे हैं....मुझे उम्मीद है कि तू अपने भैया को ज्यादा तकलीफ अब नहीं देना चाहेगी...सोच तो जरा कि तू जब दूसरे की हो जायगी तो मुझे कौन पूछेगा ? मुझे सहारा देने के लिये कौन रह जायगा यहाँ ?....'

चुप हो गया रसूल तो पपिहरा की आँखों से चौधारे आँस

निकलने लगे। करुणा का बाँध टूट गया। सहानुभूति पाकर रुँधा हुआ गला हिचकियाँ उगलने लगा।

रसूल पपिहरा के सर पर हाथ फेरता रहा और वह रोती रही।

"देख पपिहा!"—बोला रसूल—" पाल-पोस कर बड़ा बनाने की सजा क्या तू मेरे मुँह पर कालिख लगाकर देना चाहती है?...अब तू बच्ची नहीं रही। नादानी छोड़ और ऊँचा-नीचा समझ कर चल....मैं नहीं जानता था कि इतने दिनों का मेरा प्यार भूल कर तू एक परदेसी के लिये इस कदर मायूस होगी..."

"मैं अब मायूस नहीं होऊँगा भैया!"—पपिहरा सिसकती हुई बोली—"तुम खुश रहो। मैं अपने दिल को तोड़कर तुम्हारी ख़्वाहिशों पर चलूँगी....तुमने मुझे पाला-पोसा है, मैं भी तुम्हारी खुशी के लिये अपनी हसरतों का खून करूँगी...."

पपिहरा के दिल का खून हो गया। अरमान अन्दर ही अन्दर तड़पते रहे परन्तु होठों पर फरियाद नहीं आई, आँखों से आँसू नहीं छलके। सीना धड़कता रहा परन्तु उसकी आवाज बाहर नहीं आई।

पपिहरा का बचपन मरा, जवानी आई। पपिहरा का दिल टूटा मगर जबान चुप रही। कोई सुननेवाला नहीं, कोई हमदर्द नहीं—सभी हँसनेवाले।

पपिहरा के मुख की मुस्कान, गालों की ललाई, होठों की मदिरा, आँखों की शोखी, गले की आवाज—सब न जाने कहाँ चले गये?

बसीदा उस नादान छोकरी की मायूसी पर परेशान है!

एक दिन बोली वह—"अरी ए बन्नो!..."

"मुझे अकेली छोड़ दो दादी!..." पपिहरा करुण स्वर में बोली।

"सुन तो छोकरी! यह तूने अपनी क्या हालत बना रखी है?"

बोली बसीदा—"अभी कल फूल-से बदन पर जवानी आई और आज पंखुरियाँ टूट कर जमीन पर बिखर गईं। मुझसे बता न तू, तेरी जिन्दगी में यह कैसा पतझर आया है?...."

"मुझे कोई तकलीफ नहीं दादी! तुम ख़ामख़ाह परेशान मत हो..."

"परेशान तो तू ही हो रही है बन्नो"—बुढ़िया ने कहा—"तू समझती है कि यह बुढ़िया तेरा दर्द क्या समझेगी?....अरे, मैं भी कभी जवान थी बन्नो! मैंने भी उल्फ़त में तड़पने का मजा जाना है। बता न, वह कौन है ज़ालिम जो तेरे मासूम दिल को इस क़दर जला रहा है!"

"तुम तो फजूल की बकवास करती हो दादी! जाओ तुम, मुझे अकेला छोड़ दो...."

"या खुदा! इस छोकरी को थोड़ी-सी अक्ल दे....यह आज-कल अपनों से भी जलने लगी है..."

कहती हुई बसीदा चली गई।

पपिहरा की आँखों से आँसू छलक पड़े। वह खुद जलना चाहती थी, मगर किसी की हमदर्दी पाने की अभिलाषिनी नहीं थी वह!

उसी दिन तालाब के किनारे!

"पपिहा!...."

"आओ खलील!...."

"तेरी आँखें कभी खुशी के फूल भी बिखरायेंगी या हमेशा मायूसी के काँटे ही बिछाती चलेंगी?"—बोला खलील पपिहरा के पास बैठता हुआ—"खुदा कसम! तू बिल्कुल मुर्दा होती जा रही है आजकल! गुमसुम बैठी रहती है। बता न, तेरे बदन की सारी हरकतें क्या हुईं? भला इस तरह भी कोई मुब्तिलायेग़म

होता है ? इन्सान रोना चाहे तो जिन्दगी भर तक रोता रहे। तकलीफों की इन्तहा कभी होती ही नहीं..."

"खलील ! तुम सब कुछ समझते हो"–बोली पपिहरा–"तुम्हीं बताओ, यह ग़म मैं कैसे बरदाश्त करूँ ?....दुनिया चाहती है कि वह सताये और मैं रोऊँ नहीं, वह ज़ुल्म ढाये और मेरी आँखें हँसती रहें, वह तीर चलाये और मैं अपना सीना उसके सामने कर दूँ....कितनी बेवफा है यह दुनिया...."

"दुनिया और दुनियावालों की बात छोड़"—खलील ने कहा—"मेरी बात माने तो कहूँ ?"

"कहो—मानूँगी !..."

"चल, कैलास भैया से दीपक का पता पूछ लें और किसी दिन रात में निकल चलें दीपक की खोज में..."

"खलील !"—पपिहरा ने बेताबी से खलील का हाथ पकड़ लिया—"यह नसीहत मुझे मत दो खलील ! मैं गाँव छोड़कर भाग न सकूँगी...."

"देख पपिहा ! अगर दर्द पाला है तूने तो दवा की खोज। हँसने दे दुनिया को, करने दे लोगों को इशारेबाजियाँ...."

"यह मुझसे नहीं होगा खलील !"

"यह नहीं होगा तुझसे तो मर यहीं"—बोला खलील—"कितनी बुजदिल हो गई है कम्बख्त ! चल एक दफा कैलास भैया से मिल तो ले...."

"रसूल भैया को मालूम हो गया तो आफत आ जायगी खलील !"

"हम चुपके-चुपके चलेंगे"—

आधे घंटे बाद हवेली में।

"अरे, कैसे आई पपिहरा तू ?"—कैलाश बोला।

"मैं इसे घसीट लाया यहाँ कैलास भैया"—खलील ने कहा।

"बैठो तुम लोग...."

दोनों जमीन पर बैठ गये। पपिहरा का सर नीचा था। आँखें जमीन की छाती पर दीपक को खोज रही थीं।

कैलाश बोला—"यह वही पपिहरा है न, पहचान में ही नहीं आती .."

"फूल की खुशबू तो तुमने छीन ली कैलास भैया! तो मुरझाया फूल कैसे पहचान में आ सकेगा? खुदा के फज़ल से तुम भी पूरे सय्याद निकले छोटे सरकार!..." बोला खलील।

"मैं क्या करूँ? दीपक का यहाँ रहना खतरनाक था—रसूल जो न कर डाले....इसीलिये उसे शहर भेज देना पड़ा..."

"तुम्हीं इस नादान को समझाओ छोटे भैया! यह मरी जा रही है। खाना-पीना सब कुछ छोड़ दिया है इसने...तुमने अक्लमन्दी से काम नहीं लिया छोटे भैया! तुम्हारे हाथों में ताकत थी। एक नहीं, हज़ार रसूल तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते थे?"

"मगर इसमें हमारी कितनी बदनामी होती खलील! स्वयं पिताजी भी बिगड़ जाते। तुम इसको धीरज दो। मैं धीरे-धीरे कोशिश करता रहूँगा। दीपक और पपिहरा कभी अलग नहीं हो सकते अब..."

"मगर धीरे-धीरे की कोशिश कारगर नहीं होगी—इस बेचारी की जान तड़पते-तड़पते निकल जायगी...."

"पपिहरा!"—कैलाश बोला—"तू अपने को सम्हाल। इस तरह से शोक करने पर तू अपने को नष्ट कर लेगी..."

"कैलास भैया! मुझे अब जीने की चाह नहीं रही..." पपिहरा कैलाश का पैर पकड़कर रोने लगी।

"दीपक का पता मुझे बता सकते हो छोटे भैया?"—खलील ने कहा।

"क्या करोगे?"—

"कभी-कभी पपिहरा के लिये उसकी खोज-खबर ला दूँगा..."

"मगर तुम वहाँ पहुँच नहीं सकोगे खलील ! वह बड़े आदमी का दरबार है, गाँव के जमीन्दार की हवेली नहीं...फिर भी कभी जाना चाहो तो मेरी चिट्ठी लेकर जा सकते हो। वह शहर में स्टेशन के पास ही रहता है, लाल-कोठी में..."

"अच्छा तो चलूँ छोटे भैया !"

दोनों बाहर आये।

पपिहरा घर आई तो देखा रसूल पीकर आज जल्दी ही आ गया था। उसे देखकर लाल आँखें लिये उसके सामने आ खड़ा हुआ।

"कहाँ गई थी तू ?"—पूछा उसने।

"तालाब पर..."

"और कौन था ?"

"खलील...."

"इस खलील के बच्चे की एक दिन मैं गर्दन तोड़ दूँगा"—रसूल बिगड़ा—"अब कभी उसके साथ तुझे देखा तो ठीक नहीं होगा..."

"......" पपिहरा चुप।

"हवेली क्यों गई थी तू ?"

"......" पपिहरा सन्न।

"जवाब दे"—गरजा रसूल।

"मैं हवेली नहीं गई थी..."

"झूठी कहीं की....जुम्मन कहता था मुझसे। उसने तुझे खलील के साथ हवेली में घुसते देखा था....अब दीपक न रहा तो कैलास....क्यों ? कमीनी, कुत्ती कहीं की...." नशे में बक रहा था रसूल।

"रसूल भैया !"—पपिहरा तेज स्वर में बोली-"तुम मुझ पर कितना कीचड़ उछालोगे ? पीकर तुम अन्धे बन जाते हो...."

"अन्धा बन जाता हूँ...."

दाँत पीसकर झपटा रसूल और पपिहरा के गालों पर दो तमाचे जड़ दिये। पपिहरा भागकर बसीदा के झोंपड़े में घुस गई।

रात में बड़ी देर तक लिखता रहा था, सो इस समय काफी दिन चढ़ आने पर तब आँखें खुली हैं। लिखते-लिखते आँखें इतनी थक गयी हैं कि देख सकना मुश्किल है। कान सचेष्ट हैं और चारों तरफ होता हुआ हो-हल्ला मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ।

देवीजी पता नहीं कहाँ हैं ? शायद बच्चों की फौज को कमाण्ड कर रही होंगी। आज मुझे उठाने भी नहीं आयीं वे, सोचा होगा कई दिन का जगा-पिसा 'बैल' थोड़ी देर तक सो ले, आराम कर ले, तो अच्छा। मोहल्ले वाले भी जग गये हैं और अपनी रोजमर्रा की जिन्दगी बिताने के लिए सजग हो उठे हैं।

चारपाई से उठकर खड़ा होता हूँ—विश्वास तो नहीं था कि ये पैर शरीर का बोझ सम्हाल सकेंगे, परन्तु आश्चर्य होता है यह देखकर कि कमजोर पैरों में रात ही भर में भीम की गदा जैसी ताकत आ गयी है।

कोठरी से निकल कर बाहर आता हूँ और दरवाजे पर बिछी हुई चारपाई पर टूटे तारे की तरह गिर पड़ता हूँ। सामने देखने लगता हूँ। खपरैल का मकान सड़क के उस पार अचल खड़ा है। पियारी की पीली-गीली धोती दरवाजे पर टँगी हुई सूख रही है। और पियारी की मदभरी जवान आँखें एक कोने से मेरी तरफ तिरछे-तिरछे देख रही हैं। गोरा-सा सलोना चेहरा मुझ जैसे

लेखक के लिये चाँद से कम सुन्दर नहीं। माथे पर की टिकली साये में तारे-सी चमक रही है।

हा-हा-हा-हा !

यह हँसी की आवाज कैसी ? मुझ जैसे गरीब के कानों में यह अट्टहास कैसा, प्रसन्नता की यह अविराम ध्वनि कैसी ?

ध्यान लगाकर सुनने लगता हूँ। अरे, यह आवाज तो मेरे घर के अन्दर से ही आ रही है। हँसी की यह ध्वनि मेरे कलेजे में तीर-सी चुभी जा रही है।

इस हँसी में दो-दो रागों का सम्मिलन है। एक राग मोटा, भद्दा, मिल के भोंपे जैसा, मर्द का। और दूसरा राग नाजुक सुरीला, बाँसुरी के ध्वनि की तरह, किसी नारी का। और ये दोनों राग हँसी की रफ्तार में इस कदर मिल-जुल गये हैं कि उनसे एक तीसरे ही राग की सृष्टि हो रही है, जिसे सुनकर कम से कम मैं तो परेशान हो उठा हूँ।

मर्द की आवाज हरप्रसाद की है और जनानी आवाज है अपनी देवीजी की। दिमाग उड़ने लगा है। शंका की रेखायें मस्तिष्क में उदय होकर हलचल मचाने लगी हैं।

यह हरीप्रसाद इतने सबेरे यहाँ क्या करने आया और घर के अन्दर देवीजी के पास बैठकर कौन-सी उलझन सुलझा रहा है ? और फिर दोनों की यह सम्मिलित हास्य-ध्वनि !

कलेजे का एक-एक रग अगम घृणा से भर उठा है। मैं अकर्मण्य हूँ, गरीब हूँ। पास में पैसा नहीं, केवल सूखी इज्जत है। और इज्जत से स्त्री-बच्चों का पेट कैसे भर सकता ? सो देवीजी को अपना और बच्चों का पेट भरने के लिये हरीप्रसाद से एकांत में हँसना-बोलना पड़ रहा है। कितनी नीचे गिर गयी है आज की नारी ! एक लेखक, जो दूसरों को उत्थान की शिक्षा देता है, क्या अपनी पत्नी को नेकचलन नहीं बना सकता ?

हा-हा-हा-हा !

इस बार की हँसी सुनकर मुझे बेहद क्रोध चढ़ आया है। आँखें फट पड़ना चाहती हैं। हाथ की मुट्ठियाँ कसकर बँध गयी हैं।

मैं सुन रहा हूँ।

"ले लो भाभी ! इन रुपयों को रख लो। इन्हें लेने से इनकार करोगी तो मेरा दिल टूट जायगा।" हरीप्रसाद है।

शैतान का दिल क्या है, शीशे की डली है ! देखा आपने, भोली-भाली नारियों को बहकाने के लिए पाजी पुरुष कैसा मीठा स्वांग रचते हैं।

"मैं इन्हें नहीं लूँगी देवर" देवीजी बोल रही हैं—"वे अभी सोये हैं, जग जाने पर मुझे बिगड़ने लगेंगे।"

"तुम्हें लेना ही पड़ेगा भाभी ! ले लो इन्हें। मुझे गैर मत समझो। मैं तो तुम्हीं लोगों का हूँ।"

आवेश में भरकर मैं अपने कान बन्द कर लेता हूँ। मैं नहीं सुनना चाहता इन सब बातों को।

उड़ती हुई निगाहें पियारी के दरवाजे पर जा पड़ती हैं। वह अब तक मेरी ही ओर देख रही हैं। नजरें मिलते ही उसने हाथ के इशारे से मुझे अपने पास बुलाया है। विपत्तिग्रस्ता नारी के आवाहन पर मैं दौड़ सकता हूँ परन्तु वासनाभरी नारी का आमन्त्रण मैं स्वीकार करने में सर्वथा असमर्थ हूँ—फिर हमारे और पियारी के बीच में हजार-हजार गड्ढों वाली पक्की सड़क जो है, लाख-लाख जबान वाले समाज के कीड़ों के मुख जो हैं। इनसे बचकर वहाँ तक पहुँचना कितना कठिन है मेरे लिये ?

"अरे भाई, तुम उठ गये...भाभी तो कहती थी कि तुम सोये ही हो अब तक...क्या रात में भाभी ने तुम्हें अधिक देर तक जगा रक्खा था ?" हरीप्रसाद बाहर आकर बोल रहा है।

मैं चुप हूँ, बोलता नहीं कुछ। बोलना चाहता भी नहीं। डर है कि क्रोधी हृदय की आग, जबान की राह से शोले बनकर फूट न निकले।

"मैं देख रहा हूँ तुम्हारी तबियत दिन पर दिन खराब होती जा रही है। अपने स्वास्थ्य का ख्याल रक्खो। भाभी और बच्चे तुम्हारे ही सहारे हैं। रुपयों की जरूरत के वक्त मुझे गैर न समझना....अच्छा चलूँ, दूकान पर जाना है।"

चला गया है हरीप्रसाद, धीरे-धीरे, नाली के कीड़े की तरह रेंगता हुआ। मैं देख रहा हूँ उसे। उसकी आकृति अस्पष्ट होती जा रही है परन्तु उसके प्रति आर्यी हुई हृदय की घृणा अधिकाधिक स्पष्ट होकर उग्र रूप धारण कर रही है।

मैं उसके बारे में अधिक नहीं सोचना चाहता। लीजिये, मैंने अपना दिमाग मोड़ लिया है और प्रेयसी, अपनी नवीन पुस्तक के प्रकाशन के विषय में सोचने लगा हूँ। इतनी दूर तक तो लिख चुका। अब इसे किसी प्रकाशक को दिखलाना ही चाहिये। कोई दयालु प्रकाशक मेरी गरीबी पर तरस खाकर इसे छापना मंजूर कर ले और दस-बीस रुपये अग्रिम दे दे तो मेरी जिन्दगी में चाँद हँस पड़े और अभाव की चक्की में देवीजी का पिसना भी बन्द हो जाय।

तो मन ही मन निश्चय कर लिया है कि इस अधूरे उपन्यास को किसी प्रकाशक के सामने रखना ही पड़ेगा। चाहे जैसे हो, मुझे कुछ रुपयों का प्रबन्ध करना ही होगा।

तभी अन्दर से देवी जी आ पड़ती हैं।

मुझे बाहर बैठा देखकर उन्हें आश्चर्य होता है। कहती हैं—"अरे, तुम कब के जगे हो? मैं तो जान ही न पाई...."

"जानतीं कैसे?" मैं हूँ—"हँसी-हल्ले में कान जरा कम काम कर पाते हैं...."

वे—"हरीप्रसाद आये थे—तुमसे भेंट हुई ?"

मैं—"हाँ...." कह कर चुप रह जाता हूँ। एक क्षण के लिये देवी जी के मुख की ओर देखता हूँ तो हृदय अपार घृणा से तड़फड़ाने लगता है। मैं नजरें नीची कर लेता हूँ। सोचने लगता हूँ कि नारी गिर रही है तो अपने से क्या प्रयोजन ?

वे कहती हैं—"आज वे फिर बीस रुपये जबर्दस्ती दे गये हैं, मैं तो लेनी ही न थी...."

मैं—"चलो, यह भी अच्छा ही हो रहा है"—मेरे मुख पर छाई हुई घृणा जबान पर भी आगई है—"मैं खुश हूँ कि कमाने का अच्छा रास्ता तुमने अख्तियार कर लिया है...."

वे—"यह क्या कहते हो तुम ?"

मैं—"कहूँगा क्या ? समाज का डर है, नहीं तो तुम्हें स्वतन्त्र कर देता....आज तुम्हारे मुख से इतनी स्पष्ट हँसी मैंने पहली बार सुनी है, सो भी एक पराये पुरुष के सामने। नहीं जानता था कि जो कोप तुमने अब तक अपने पति से छिपा कर रखा था, उसे दूसरों को लुटाने लगोगी...."

कहते-कहते रुक जाता हूँ मैं और दोनों हाथों से अपना मस्तक पकड़ लेता हूँ।

देवी जी लपक कर मेरे और नजदीक आ जाती हैं। कहती हैं, मेरे सर पर हाथ रख कर—"तुम ज्यादा मत बोलो। तुम अपने को नष्ट करने पर तुल गये हो। हरीप्रसाद ठीक कह रहे थे—वे शाम को वैद्य लेकर आयेंगे यहाँ..."

मैं—"वैद्य....वैद्य तो वह तुम्हारे लिये लायेगा। मैं तो एकदम स्वस्थ हूँ....मुझे कौन-सा रोग है ? यह लिखने का रोग वैद्य-हकीम नहीं दूर कर सकते....जरा मेरी चप्पल और वह हस्तलिपि तो ला देना...."

"क्या करोगे ? कहाँ जाओगे ?..."

"शहर जाऊँगा"—मैं कहता हूँ—"तुम बीस रुपये रोज कमा सकती हो तो मुझे भी कुछ न कुछ कमाना ही पड़ेगा। मैं अब अपनी प्रतिष्ठा का ख्याल न करके प्रकाशकों के पैर पड़ूँगा। देखूँ, क्या परिणाम निकलता है ?...."

वे—"मैं तुम्हें नहीं जाने दूँगी—उतनी दूर पैदल नहीं जा सकते...."

मैं—"मुझे रोकने की चेष्टा छोड़ो देवी, मुझ पर से अपना अधिकार हटा लो अब। जिसका मन कल्पना में इतनी दूर का सफर कर सकता है, उसके पैर उसे दो-चार मील भी नहीं ले जा सकते क्या ? तुम रहने दो, मैं स्वयं हस्तलिपि ले लूँगा—"

मैं धीरे से उठ पड़ता हूँ। अन्दर आकर मुँह धोता हूँ फिर पैर में चप्पल डाल और हाथ में हस्तलिपि लेकर बाहर की ओर बढ़ता हूँ।

"चाय बनाई है, पीते जाओ...." देवी जी का अनुरोध है, सहमे स्वर में।

मैं उबल पड़ता हूँ—"चाय में जहर घोलकर तुम दूसरों को पिलाओ। अभी मुझे मरने की चाह नहीं। मैं जिऊँगा, चाहे आदमी बनकर या पागल कुत्ता बन कर...."

मैं यथाशक्ति तेजी से बाहर आता हूँ। ऊबड़-खाबड़ सड़क सीधे शहर को चली गई है। मैं उसी पर अपने पैर बढ़ा देता हूँ। चला जा रहा हूँ। आँखें खुली हैं—मन दौड़ रहा है।

देखें, इस हस्तलिपि को देखकर प्रकाशकगण क्या कहते हैं, क्या देते हैं ?

आजकल मुझ जैसे मानी साहित्यकों की पूरी मरण है। प्रकाशक तो पूछते ही नहीं, अपने अन्य लेखक-बन्धु भी घृणा करते हैं। लेखकों-सम्पादकों-कवियों की ऐसी गुटबन्दी चल रही है इस जमाने में कि जो इस गुटबन्दी से बाहर रहा, उसकी लेखकों में

गिनती ही नहीं और जो इस गुट में शामिल हैं, उनका बोलबाला है, चाहे उन्हें कलम पकड़ने का भी सलीका न हो।

यह आत्मप्रचार का युग है। आत्माभिमानी लेखकों की कोई पूछ नहीं। वे बिचारे जीवन भर तक यों ही घिसटते रह जाते हैं मेरी तरह।

ये सम्पादक! पत्र-पत्रिकाओं के भाग्य विधाता!

ये भी पूरे घूसखोर और तरफदारी से भरपूर हैं। अपने मित्रों की ही रचनायें छापेंगे परन्तु नये लेखकों के उत्थान के प्रति सर्वथा उदासीन रहेंगे। लेखिकाओं की कृतियाँ बगैर मीन-मेख के स्वीकार कर लेंगे। भले ही उसमें कोई तथ्य न हो, भले ही उन्हें वह पूरी रचना फिर से लिखनी पड़े, मगर सुकुमारियों की रचनायें छपेंगी जरूर। देखा आपने? आजकल 'पुलिंग' होना भी पाप हो गया है। आप अपना कोई 'स्त्रीलिंग' नाम रख कर अपनी रचना कहीं भेज दीजिये, देखिये, छपती है कि नहीं?

और आज के प्रगतिवादी कवियों की बात तो एकदम न्यारी है। 'सूर सूर तुलसी शशि उडगन केशवदास' सब इनके आगे पानी भरें! गले में मिठास हो, स्वर में कम्पन हो और दिमाग में दूसरों की कविताओं को तोड़-मरोड़ कर अपना बनाने की शक्ति हो—बस, आप कवि बन गये। ठाट से रेल भाड़ा लीजिये, 'मुजरे' का रुपया टेंट में रखिये और माइक्रोफ़ोन के आगे 'आजा सखी मेरे आँगन में कि तुम बिन जियरा ना लागे' गा दीजिये—फिर देखिये कि समूचे कवि-सम्मेलन में वाह-वाह, आह-आह हाय-हाय का समाँ बँधता है या नहीं? और अगर कमर में थोड़ा बहुत बल खाने की ताकत हो, आँखें कुछ बड़ी—कुछ हलाहल भरी हों, हाथ की उँगलियाँ नागिन की तरह लचकती-लपकती हों, और सिन जरा कम, चेहरा नमकीन, अदायें हसीन हों, तब तो आप गजब ढा सकते हैं साहब!—सच कहते हैं, एक दिन इन

वेश्याओं का सारा कारोबार आपके हाथ में न आ जाय तो मेरा नाम नहीं।

"देख के नहीं चलते तुम ?" किसी ने कड़क कर कहा है।

विचार-धारा टूट गई है। आँखें दरवाजे की तरह खुल गई हैं। देखता हूँ कि सामने एक कार खड़ी है और उस पर के साहब बहादुर उतर कर मुझे डाँट रहे हैं—"अन्धे बन कर चलते हो सड़क पर। इतना हार्न बजाया मगर बहरे कान सुनें तब न ? अभी कार के नीचे आ जाते तो दोजख का टिकट कटा लेते...."

ये कोई मुसलमान साहब हैं। कार के अन्दर एक हसीन साहिबा बैठी हैं। बिगड़ तो रहे हैं साहब बहादुर मगर खून टपक रहा है साहिबा की आँखों से, जैसे मुझे बगैर पकाये ही खा जायेंगी।

"माफ कीजिये साहब !"—मैं बड़ी दीनता से कहता हूँ—"गरीबी जो न कर डाले—चाहे अन्धा बना दे या बहरा !....मैं दब भी जाता, तो क्या बनता-बिगड़ता ? मेरे न रहने से सूरज का उगना या चाँद का चमकना तो बन्द न हो जाता। हम जैसे गरीब तो रोज़ ही जीते-मरते हैं साहब ! आप अपनी कार ले जाइये। मैं माफी चाहता हूँ...."

लोग कहते हैं कि शीरीं जबान यानी मधुर वाणी वशीकरण मंत्र से कम नहीं। इस बात का अनुभव मुझे आज ही हो रहा है। मैं देख रहा हूँ कि मेरा नम्र स्वर सुनकर उन साहिबा की आँखों का खून मदिरा का रंग ले रहा है और साहब बहादुर भी पानी-पानी हो गये हैं।

शायद पहले उन्होंने मेरी वेश-भूषा देखकर कोई गँवार-उजड्ड समझ लिया था। अब वे कहने लगे हैं—"आप बहुत मायूस नजर आते हैं मगर जरा आँखों से भी काम ले लिया करें...."

"शुक्रिया !" मैं कहता हूँ–"पेट भरा रहे तो आँखें भी अच्छा काम कर लेती हैं साहब !..."

"अजीज़ भाई !"—कार के अन्दर से वीणा झंकृत हो रही है—"ये कोई मुसन्निफ़ मालूम होते हैं। इनके अलफाज कितने हसीन हैं और बोलने का ढंग कितना मासूम...."

"शुक्रिया !"—मैं पुनः 'अदा' करता हूँ—"आप लोगों को बड़ी तकलीफ दी....माफ करेंगे...."

मैं आगे बढ़ चलता हूँ; नहीं तो कहीं वीणा की कोमल झंकार मुझ जैसे मृग को मोह न ले ! पीछे मुड़कर मैं देखता भी नहीं।

मन फिर कुछ सोचने के लिये तड़फड़ाने लगता है परन्तु मैं उसे रोक देता हूँ। अपने मन को कभी-कभी मैं काबू में कर ही लेता हूँ।

"अरे बेटा ! कहाँ चल दिये ? शहर जा रहे हो क्या ?"—

[illegible]

हित नहीं कर सकते—तो 'राम ते अधिक राम कर दासा' हम कैसे मान लें ? ऐसे दास हुए होंगे किसी युग में। आजकल तो राम के नाम पर कमानेवाले दास हैं। तुफ़ है, ऐसी दासता पर—ऐसे भजन-कीर्तन पर !

यह लीजिये, चिन्तन में रास्ता कितनी जल्दी कट गया। बीच शहर में आ पहुँचा हूँ। अब तो दिमाग स्थिर कर और आँखें खोल कर चलना पड़ेगा। शहर है न सो यहाँ एक-एक पग पर खतरा आ सकता है।

यह रही एक छोटे से प्रकाशक की दूकान 'श्यामसुन्दर ब्रदर्स'!

श्यामसुन्दर जी दूकान पर बैठे हैं। पैर उस ओर बढ़ चले हैं। दूकान के सामने आकर खड़ा होता हूँ।

"अरे, आप, राजा बाबू! किधर से टपक पड़े आज?"—वे कहते हैं।

गनीमत हुई कि आँखों पर लटके हुए मोटे चश्मे के भीतर से भी उन्होंने मुझे पहचान लिया है।

"ऐसे ही चला आया आपके दर्शनार्थ!"—मैं बोलता हूँ।

"बड़े दुबले हो गये हैं आप तो..." वे हैं।

"ओस चाटने से मुटापा नहीं आता श्यामसुन्दरजी"—मेरे मुख पर क्षणिक-क्षीण मुस्कान आकर विलीन हो गई है।

श्यामसुन्दरजी हैं—"ओस तो अमृत है राजा बाबू!....हाँ, इधर कोई नवीन रचना की या नहीं?"

"हाँ! की तो है, लाया भी हूँ—दिखाऊँ आपको?"

"ऐसे अपने भाग्य कहाँ? देखते हैं न, मार्केट से कागज गदहे की सींग हो गया है...."

"गदहे की सींग तो नहीं हो गया है श्यामसुन्दरजी! यह कहिये कि दिन के समय सारा कागज उल्लू की तरह सेठों के गोदाम-घोंसलों में छिपा रहता है और रात में ब्लैकमार्केट का सहारा पाकर बाहर निकलता है...." मैं कहता हूँ।

"ठीक कहते हैं आप"—वे बोलते हैं—"अपनी इतनी शक्ति नहीं कि ब्लैकमार्केट का पल्ला पकड़ सकें...."

"आप पुस्तक देख लीजिये—पसन्द आ जाय तो कभी साल-

दो साल में छापियेगा, सुविधानुसार"—मैंने हस्तलिपि इनके सामने पेश कर दी है।

वे उलट-पुलट कर उसे देखने लगे हैं। मेरी साँस रुक गई है। उनका निर्णय सुनने के लिये कान बेहद बेचैन हैं।

"यह क्या ? पुस्तक अधूरी है क्या ?"

"जी हाँ ! बात यह है कि कुछ रुपयों की बहुत जरूरत थी, इसीलिये..."

"महाशय ! आप कैसे लेखक हैं ? इतना भी नहीं समझते कि अधूरी किताब देखकर कौन प्रकाशक इसे पसन्द करेगा और रुपये देगा ? रुपये तो किताब छापकर १००-२०० प्रतियाँ बिक जाने पर ही दिये जा सकते हैं...आप पहले किताब पूरी लिख कर लाइये, तभी हम अपना निर्णय दे सकते हैं...."

मेरा बदन काँपने लगा है। पहले मीठी-मीठी बातें और बाद में टका-सा जवाब। जैसे आकाश पर काले बादलों को देखकर मोर नचाने लगे और बाद को बिजली गिरने से वहीं मर जाय, ठीक वही दशा मेरी हुई है।

मैंने हस्तलिपि धीरे से उठा ली है और उसे सीने से लगाये आगे बढ़ चला हूँ। हृदय रो रहा है—अपनी प्रेयसी, अपनी हस्तलिपि की दुर्दशा पर। दुर्भाग्य है कि जिसका हुस्न मुझे इतना आकर्षित कर सकता है, उसकी ओर ये प्रकाशक आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहते।

दूसरे प्रकाशक का द्वार खटखटाया है मैंने।

"देखिये साहब !"—वे कहते हैं—"आपका नाम तो काफी प्रसिद्ध है, इसीलिये मैं यह अधूरा उपन्यास रखे लेता हूँ। पूरी कहानी लिखकर दे देने पर मैं आपको केवल बीस रुपये दे सकूँगा। मैं स्पष्ट कह देता हूँ। आपको स्वीकार हो तो इसे छोड़ जाइये। पूरी पुस्तक मिलने पर आपको रुपये दे दिये जायेंगे...."

"मगर बीस रुपये तो बहुत कम हैं लालाजी !—"

"अजी साहब ! बीस रुपये तो हम लोग बीस जन्म में कमा पाते हैं। इससे अधिक हम नहीं दे सकते...."

और यह रहा तीसरे प्रकाशक का आफिस !

टपाटप-खटाखट टाइपराइटर बज रहा है। टाइपिस्ट एक युवती है। आफिस में घुसते ही मुझे भिखमंगा समझ कर घूरने लगी है।

"कहिये !"—सेठ साहब मेरी तरफ घूमे हैं।

और मैंने चुपचाप अपनी हस्तलिपि उनके सामने रख दी है।

"ओह ! आप ही राजा बाबू हैं—मैं आपको पहचानता नहीं था"—कहकर वे हस्तलिपि उलटने लगते हैं।

मेरी साँस फिर ऊपर-नीचे करने लगी है।

तब तक वज्र-प्रहार की तरह सेठजी का स्वर कर्ण कुहरों में प्रवेश करता है—"हम लोग अधूरी पुस्तकें नहीं देखते साहब ! इतना फजूल समय हमारे पास नहीं...."

वे हस्तलिपि मेरे आगे फेंक देते हैं, इस तरह कि मेरा हृदय हाहाकार कर उठता है। कहता हूँ सहमे स्वर में—"पुस्तक रोचक है साहब ! मेरी अन्य पुस्तकें तो आपने देखी ही होंगी..."

"देखी हैं....खैर, तो आप यह पुस्तक कब तक हमें पूरी करके दे रहे हैं ?"

"बहुत जल्द !..."

"हम इस पुस्तक को छापकर देखेंगे कि कैसी चलती है। चल निकली तो दूसरा संकरण प्रेस में देने के पहले आपको ५०) दे देंगे—मगर कापीराइट बांड आपको अभी भरना पड़ेगा...."

"धन्यवाद !...." ग्लानि और क्रोध में भर कर मैं हस्तलिपि उठा लेता हूँ और बाहर जाने लगता हूँ।

पीछे से युवती टाइपिस्ट की खिलखिलाहट सुनाई पड़ती है—

"कैसे-कैसे भिखारी लेखक हो रहे हैं आजकल सेठ जी ! खाने का ठिकाना नहीं और चले हैं लिखने...."

मैं सुन रहा हूँ। कान के परदे जैसे फटे जा रहे हैं। सड़क पर आ गया हूँ। निराशा लेकर अब घर लौटने का इरादा कर लिया है। शहर का अब कोई प्रकाशक नहीं बचा है। यों तो अन्य प्रकार की पुस्तकें छापने वाले कई-एक हैं परन्तु उपन्यासों का प्रकाशन केवल यही तीन करते हैं।

आज साहित्य की यह छीछालेदर और साहित्यकार की यह दुर्दशा कि तीन-तीन प्रकाशक भी उसका पेट नहीं भर सके।

गरीबों का पेट भर ही कौन सकता है ? ये धनिक अपनी तिजोरियों को भरने से तो फुर्सत ही नहीं पाते।

मेरे पैर अपने-आप सड़क छोड़कर पगडंडी पर बढ़े जा रहे हैं, घर की तरफ। दिमाग सन्न हो चला है। कुछ सोच सकने की भी ताकत नहीं। पैर अपना काम किये जा रहे हैं।

गाँव का किनारा आ गया है। टूटे-फूटे घर आँखों की क्षीण ज्योति में यहाँ से दिखाई पड़ रहे हैं। शाम हो चली है। पूरब की ओर से धुँधला-सा अँधेरा घिरा आ रहा है। इस अँधेरे की तुलना जब मैं अपने हृदय की निराशा से करता हूँ तो लगता है, जैसे मेरे जीवन में काली रात घिर आई हो। मैं समझ गया हूँ कि यह काठ की दुबली कलम, कागज के ये सफेद टुकड़े और लगातार लिखते रहने का यह दिमागी खब्त केवल प्रशंसा ही दे सकते हैं, रोटी नहीं !

यह है मेरे घर का दरवाजा, जिसके सामने से यह गड्ढेदार सड़कनुमा पगडंडी साँप की तरह लोटती हुई दूर अँधेरे में जाकर विलीन हो गई है।

दरवाजे के सामने खड़ा होता हूँ तो दरवाजा बन्द और

अन्दर से 'हा-हा-हा-हा की अविराम ध्वनि और दो सम्मिलित रागों का एकाकार होकर हँसना।

यह सब क्या है ?

कान खड़े हो जाते हैं....तो हरीप्रसाद शाम के अन्धकार में आया है देवीजी से मिलने और दरवाजा है बन्द और अन्दर से दोनों की हा-हा-ही-ही !

मैंने अपना कलेजा मजबूत कर लिया है और कान बन्द कर लिये हैं फिर भी अन्दर की बातचीत जैसे आवरण हटाकर कान के परदे फाड़े डाल रही है।

"तुम कितनी अच्छी हो भाभी !"

"......" उत्तर नहीं।

"जी चाहता है कि तुम्हें हमेशा देखता रहूँ। सच, देखता रहूँ ! सच कहता हूँ भाभी ! ये पलकें तुम्हें देखते-देखते कभी थकतीं भी नहीं...तुमने जादू कर दिया है मुझ पर भाभी ! मैं इतना बेहोश कभी नहीं हुआ था...."

"मैं क्या जानूँ जादू-टोना जी !...तुम्हारी किसी बहन ने जादू कर दिया होगा देवर !...."

"ठीक कहती हो भाभी ! तुम्हारी बहनें हैं भी बला की तीरन्दाज़...और तुम क्या किसी से कम हो ?....किसी अच्छे घर में पड़ी होती तो चाँद बन कर लोगों के सीनों पर चमकतीं..."

"यह तो अपना-अपना भाग्य है देवरजी !...." कहकर देवी जी ने ऐसी ठंढी साँस ली है कि उसकी ध्वनि बाहर से मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ।

"भाग्य तुम्हारे वश में है भाभी ! चाहो तो मेरा सहारा लेकर इसे अभी पलट सकती हो...."

मैंने सुना है और इन्तजार कर रहा हूँ कि देवीजी का तमाचा अब हरीप्रसाद के गालों को सहलाता ही है—

मगर देर हो गई—एकदम चुप्पी ! सन्नाटा !

यानी 'मौनं स्वीकृति लक्षणम् !'

मैं बिना हिले-डुले खड़ा हूँ। बदन का तरलोष्ण रक्त पत्थर बनता जा रहा है। धड़कन धीरे-धीरे चलने लगी है। हाथ-पैर काँपते-काँपते बेहोश-से हो गये हैं।

तभी—"चलूँ भाभी ! अब तो रोज ही तुम्हारा दर्शन हुआ करेगा...." सुनता हूँ।

और दूसरे ही क्षण दरवाजा खुलता है। हरीप्रसाद खड़ा है मेरे सामने। शैतान का बच्चा मुझे साँप समझकर चौंक पड़ता है। कहता है—"हें-हें, कब लौटे शहर से राजा भाई !..."

"......" जबान में ताकत नहीं कि कुछ बोल सकूँ।

"तुम्हारी किताब बिक गई ?"

"............"

मैं चुपचाप अन्दर चला आता हूँ और वह जवाब न पाकर भी चल देता है।

सुना करता था कि पूर्णमासी के दिन चन्द्रमा अपना शृंङ्गार करता है, तभी तो इतना भला मालूम देता है। देवीजी भी धुली हुई साफ धोती में आज शृंगारमयी बनी हैं कि चन्द्रमा की हजारों कलायें मात !

मुझे देखकर वे मुस्करा पड़ती हैं और मैं यह देखकर सन्न रह जाता हूँ कि यह मुस्कराहट तो पुरुषों पर बिना बादल के बिजली गिरानेवाली है। मेरा हृदय अगम घृणा से भर उठता है।

कहता हूँ—"यह हरीप्रसाद तो आस्तीन का साँप बनता जा रहा है...."

वे—"क्या मतलब है तुम्हारा ?"

मैं—"यही कि वह रात के अँधेरे में चुपके-चुपके तुम्हें डँसने

आता है। शायद जहरीले जानवर की पहचान तुम्हें नहीं....बता सकती हो कि वह इस समय यहाँ क्या करने आया था?"

वे—"क्या एक दोस्त का अपने दोस्त के घर आना पाप है?"

मैं—"नहीं, पाप नहीं—मगर मैं पूछता हूँ कि क्या वह यहाँ किसी खास काम से आया था?"

"नहीं..."

"यह क्यों नहीं कहतीं कि उसके दिये हुए रुपये तुम्हारे शृंगार में खर्च हो गये थे सो वह पुनः रुपये देने आया था...."

"......" देवीजी चुप हो गई हैं परन्तु उनकी आँखें लाल रंग ले रही हैं, शायद उन्हें क्रोध आ रहा है मेरी नाजायज बातों पर।

"वह मेरा दोस्त है"—मैं तेज आवाज में कहता हूँ—"मगर तुम्हारा वह कौन है? वह मेरे पास कभी नहीं बैठता और तुमसे रात में भी मुलाकात कर जाता है...."

"यह तुम क्या कहते हो?"—देवीजी का स्वर भी काफी तेज हो गया है।

"मैं ठीक कहता हूँ...और यह याद रखो तुम कि चन्द्रमा के चेहरे का दाग लोगों को अच्छा लग सकता है परन्तु नारी के आँचल की कालिमा समाज नहीं देख सकता...."

"यह तुम नहीं बोल रहे हो, तुम्हारा विकृत मस्तिष्क बोल रहा है। तुम्हारे हृदय में शंका लहरें ले रही है...."

"चुप रहो तुम!" मैं तड़प उठता हूँ—"मेरी आँखें देख सकती हैं, मेरे कान सुन सकते हैं, मेरा मस्तिष्क सोच सकता है...मैं अन्धा नहीं, बहरा नहीं, पागल नहीं...."

"हे ईश्वर! मैं तुम्हें कैसे विश्वास दिलाऊँ?..."

"ईश्वर का नाम मत लो—ईश्वर अगर कोई है तो

वह इतना पवित्र है कि तुम्हारी नापाक ज़बान को उसे पुकारने का कोई अधिकार नहीं...."

वे—"तुम मुझे बन्धन में जकड़ना चाहते हो ?"

मैं—"नहीं, मैं नारी की स्वतन्त्रता का पृष्ठपोषक हूँ मगर उसकी उच्छृङ्खलता मेरी दृष्टि में घृणित है। मेरा कोई भी बन्धन तुम्हें नहीं मगर इसके माने यह नहीं कि तुम नाली के गन्दे पानी की तरह मनमाना बहकर मेरे जीवनपथ में गन्दगी फैलाओ...."

वे—"तुम कृपाकर चुप रहो। मुझे भी हृदय है, मुझे भी बातों की चोट लगती है, मेरे मुँह में भी जबान है...."

मैं—'तो अपने मुख से तुम भी शोले बरसाओ, मैं रोकूँगा नहीं। नारी जब बन्धन तुड़ा कर भागना चाहती है तो पुरुष उसे कब तक बाँधे रख सकता है....नारी बुद्धिहीन होती है, तभी तो तुम एक पुरुप से पीछा छुड़ा कर दूसरे पुरुष का सहारा ग्रहण कर रही हो। अगर मैं साँप हूँ तो हरीप्रसाद भी साँप ही है, मुझसे कम बिषैला नहीं वह...नारी को पुरुष का सहारा चाहिये ही—चाहे वह पति का सहारा हो या यार का....'

"तुम चुप रहते हो या नहीं—"

देवीजी के मुख से बिजली भी कड़क सकती है, यह आज जीवन में पहली ही बार अनुभव कर रहा हूँ।

वे पुनः तेजी से कहने लगती हैं—"सहनशक्ति की भी एक सीमा होती है। पुरुप कितने कठोर होते हैं। स्वयं तो चाहे सैकड़ों नारियों से हँसें-बोलें मगर पत्नी को अपने मित्र से भी मिलने देना नहीं चाहते....तुम रोज दरवाजे पर बैठकर निठल्लों की तरह पियारी रानी से आँखें लड़ाया करो और मैं भूखा पेट लेकर केवल तुम्हारा ही मुख देखती रहूँ। क्या यही न्याय है ?"

देवीजी की एक-एक बात सुनता हूँ मैं और अतिशय गंभीर हो जाता हूँ।

करुण स्वर में कहता हूँ—"देवी ! मुझे चाहे तुम्हारी जरूरत हो, परन्तु मैं यह जान गया हूँ कि तुम्हें मेरी अब जरूरत नहीं रही, क्योंकि तुम मेरे साथ भूखे पेट नहीं रह सकतीं....ठीक है, सहनशक्ति की भी एक सीमा तो होती ही है और कोई जीवन पर्य्यन्त भूखे पेट तो रह सकता नहीं...." होठों पर मेरे एक फीकी हँसी फूट पड़ती है—"अच्छा हुआ कि तुम्हें अपना पेट भरने का एक सहारा मिल गया। रह गया मैं—सो कहीं न कहीं से टुकड़े मिल ही जायँगे....तो चलता हूँ मैं। जीवन के दौरान में यदि कभी मेरी आवश्यकता प्रतीत हो तो याद कर लेना..."

मैं घूम पड़ता हूँ दरवाजे की ओर।

देवीजी दौड़कर मेरे सामने आ खड़ी होती हैं। विकल होकर पूछती हैं—"कहाँ जा रहे हो ?"

मैं—"जहाँ पैर ले जाँय...."

वे—"इतना बड़ा दण्ड मुझे मत दो तुम ! मेरे ऊपर दया करो, रहम करो...."

मैं—"मैं तो पागल हूँ देवी ! और पागल स्वयं दण्ड झेलते हैं, दूसरों को दण्ड नहीं दे सकते। मुझे रोकने की चेष्टा व्यर्थ है....तुम खुश रहो, फूलो, फलो...."

देवीजी ने मेरा पैर पकड़ लिया है मगर मैं उन्हें झटक देता हूँ।

वे तुरन्त तनकर उठ खड़ी होती हैं। कहती हैं—"तुम मुझे झुकाना चाहते हो ?...."

"नारी तो पतले बाँस की टहनी है, जो ऊँचे चढ़कर स्वयं झुक जाती है...."

वे—"तुम मुझे छोड़कर जा रहे हो कि विपत्ति के समय मैं तुम्हें पुकारूँ ?...नारी को तुमने अभी समझा नहीं। मुझमें भी आत्मसम्मान है, मैं भी दुःख के समय हँस सकती हूँ, मैं भी आँखों से आँसू की जगह शोले बरसा सकती हूँ....नारी को झुकाने की

आकांक्षा रखनेवाले लेखक ! जाओ तुम ! जहाँ जी चाहे, जाओ. मगर यह मत समझना कि दुःख के समय कोई तुम्हें पुकारेगा। तुम्हें स्वयं आना पड़ेगा। नहीं आओगे तो यह नारी तुमसे अपने सुहाग की भीख माँगने नहीं जायगी....”

देवीजी दौड़ कर घर के अन्दर हो जाती हैं। मैं खड़ा हूँ बाहर, अन्दर से उनकी हिचकियों की आवाज़ आ रही है। दिल पिघलना चाहता है परन्तु घृणा की धारा बड़ी प्रबल है।

मेरे पैर उठ पड़ते हैं। शरीर लड़खड़ाता आगे बढ़ चला है। मेरी प्रेयसी, मेरी अधूरी पुस्तक—कलेजे से लगी है।

मंजिल की शुरूआत हो गयी है। देखें, अन्त कहाँ होता है ?

पपिहरा के पंख काट दिये गये और उसकी हर गतिविधि पर रसूल की कड़ी नजर है। वह दिन रात झोपड़े में ही पड़ी रहती। कभी-कभी तालाब पर भी जा बैठती छिपकर, ताकि कोई देख न ले और रसूल के कानों में भनक न पड़ जाय।

रसूल की रफ्तार वही बेढंगी चल रही है। खूब पीता है। अक्सर पपिहरा को पीट भी देता है नशे में और नशा उतर जाने पर उसे दुलारता-पुचकारता भी है।

बसीरा की खाँसी आजकल बढ़ गई है, सो वह अपनी झोंपड़ी में ही सीमित रहती है। शायद ही कभी बाहर निकलती हो।

रसूल की डाँट खाकर खलील भी आजकल इधर बहुत कम आता है। कभी आया तो चुपके से पपिहरा का कुशल-क्षेम पूछ कर भाग जाता है।

इस प्रकार दो-तीन महीने बीत चले।

अब पपिहरा अपने एकान्त जीवन से ऊब गई है। उसका स्वास्थ्य भी दिन पर दिन गिरता जा रहा है। चेहरा मलिन हो गया है। आँखें काले गड्डों के बीच घिर गई हैं। हर समय शरीर अलसाया-सा रहता है। रात को ताप बढ़ जाता है। अक्सर उल्टी हो जाया करती है। अन्न के टुकड़े, पानी के कतरे, चिड़ियों का चहचहाना, कोयल की कूक, तालाब का किनारा, फूलों की मुस्कराहट, पौधों की हरियाली, कुछ भी अच्छा नहीं लगता उसे।

जाने क्या हो गया है पपिहरा को ?

वह स्वयं समझ नहीं पाती। और रसूल से उसने कभी अपनी बीमारी की बात बताई नहीं। अब जब कभी वह बाहर निकलती है तो लोग उसे घूर-घूरकर देखने लगते हैं। पपिहरा को मालूम होता है, जैसे इस समय सारा गाँव उससे घृणा करने लगा हो।

उस दिन !

शाम हो गई थी। रसूल हौली में बैठा हुआ पी रहा था, इधर झोंपड़ी में पपिहरा खटोले पर पड़ी हुई दीपक के विषय में सोच रही थी।

आज पपिहरा अस्वस्थ है और दीपक उससे दूर। मर भी जाय तो वह निर्दयी जान कैसे पायेगा कि किसी पतिंगे ने दीपक पर अपनी जान दे दी है।

"बन्नो !..."

लाठी की ठकठक आवाज हुई और बसीदा दरवाजे की राह अन्दर आई।

"अरी चुड़ैल !"—बोली वह—"यह रात का अँधेरा है या तेरे चेहरे का कालापन ? दिया क्यों नहीं जलाती रे हरामी !"

"अभी जलाती हूँ दादी ! आओ बैठो...." क्षीण स्वर में पपिहरा ने कहा और उठकर दीवट जला दिया।

बुढ़िया पहले ही खटोले पर बैठ चुकी थी। वह भी उसकी बगल में आ बैठी। बुढ़िया ने उसे आँखें फाड़-फाड़कर देखना शुरू कर दिया।

"क्यों री बन्नो!"

"क्या है दादी!..."

"इन गाँववालों के मुँह में कीड़े पड़ गये हैं क्या या उनकी जबान सड़ कर गिरी जा रही है?"

"हुआ क्या?...."

"तेरे बारे में गाँव भर में यह क्या अफवाह फैल रही है"—बुढ़िया बोली—"सुनते-सुनते कान में फोड़े निकल आये मगर कहने वालों की जबान का नासूर अच्छा नहीं हुआ। जितने मुँह उतनी बात—किसकी-किसकी जबान पकड़ी जाय....सभी तो ऐसा कहते हैं...."

"क्या कहते हैं दादी!...."

"तू तो कुछ समझती ही नहीं बेईमान! सब मुझी से पूछेगी क्या?....यह तो बता कि यह तेरी हालत कैसी हुई जा रही है?...."

"मैं बिलकुल ठीक हूँ दादी!"—पपिहरा ने कहा—"बदन में थोड़ा-थोड़ा दर्द रहता है और कभी-कभी उल्टी हो जाती है—बस!"

"बस!....इधर ला, तेरा बदन तो देखूँ...." बुढ़िया ने पपिहरा का बदन टटोलना शुरू कर दिया। पेट पर हाथ फेरते ही बुढ़िया चौंक पड़ी फिर गम्भीर होकर बोली—"क्यों री हरामी! यह क्या है? मैं पूछती हूँ, तेरे पेट में कौन-सा जानवर पल रहा है?"

"क्या है यह दादी?"

"हरामी की पिल्ली! यह हमल है, समझी?"

"हमल?"

"हाँ!...तू माँ बनने वाली है...."

"दादी !...." सुनकर पपिहरा व्याकुल होकर बोली—"मैं माँ बन कर क्या करूँगी दादी ! रसूल भैया सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? मैं कैसे जिन्दा रह सकूँगी ?...."

"खुदा बड़ा कारसाज है री छोरी ! राहेबद पर चलने वालों को वह ऐसी ही सजा देता है....अब समझ में आया कि गाँववाले क्यों इतनी बदनामी कर रहे हैं तेरी..."

"अब मैं क्या करूँ दादी ! मैं कहाँ जाऊँ ?...."

"डूब मर"—बुढ़िया बोली—"तालाब तो पास ही है। रसूल के मुँह पर कालिख लगाते तुझे शर्म नहीं आई ? अब जो कर चुकी है, उसका अंजाम भुगत....सारा ऊँच-नीच मर्द के साथ सोने के पहले ही सोच लिया होता...बता न, वह कौन कुत्ता है, जिसने तुझे इस कदर ज़लील किया ? क्या यह खलील की करतूत है ?...."

"नहीं दादी !..."

"तो ?..."

"कैलास भैया के दोस्त दीपक ने मुझे तबाह किया है दादी !..."

"वही छोकरा, जिसकी तूने कई दफा मेरे सामने तारीफ की थी ? तो अब उसके नाम पर क्यों झींक रही है सुअर की बच्ची !.... कहाँ है वह शैतान आजकल ?"

"वे शहर चले गये हैं....मगर दादी, मेरे सामने उन्हें बुरा-भला न कहो...बरसाती नाले को कोई रास्ता नहीं दिखाता, वह खुद ही अपना रास्ता खोजकर बह निकलता है...मैं खुद गिरी हूँ, सारा कसूर मेरा है...."

"कसूर तो तूने किया मगर भरी पंचायत में रसूल का सर नीचा होगा तब ?"

"पंचायत ?...."

"नहीं तो क्या ? यह गाँव है। यहाँ का कानून सबके लिए एक है...तू ने अच्छा नहीं किया बन्नो !..."

बुढ़िया उठी और लाठी टेंगती हुई बाहर निकल गई।

दो घंटे बाद !

बुढ़िया बसीदा अपने झोंपड़े में बैठी खाँस रही थी, तभी—

"दादी !...."

"अरे रसूल !....आ बैठ, कहाँ से आ रहा है बेटा ?"

"हौली से...."

"पिया नहीं है क्या आज ?"

"नहीं दादी !...."

"क्यों ?"

रसूल धीरे से उसके पास जमीन पर बैठ गया। बोला—"दादी ! हौली में घुसते ही उस्मान और जुम्मन की बातचीत मैंने सुनी और बिना पिये ही लौट आया। सोचा, पी लूँगा तो दिमाग बेकाबू हो जायगा...दादी ! क्या सचमुच पपिहरा के पैर भारी हो रहे हैं आजकल ?"

"हाँ रे हाँ ! तू ने ठीक सुना—" बुढ़िया बोली—"अभी देखकर चली आ रही हूँ। इस छोकरी ने तेरी नाक काट ली...."

"इसके बाप ने मेरी दुनिया बरबाद की थी और इसने मेरी नाक काट ली"—रसूल के मुख पर करुण हँसी फूट पड़ी—"बाप-बेटी दोनों एक दूसरे से बढ़कर निकले। जमाना ही ऐसा है दादी !..."

रसूल इस समय नशे में न था, इसीलिए उसके ज्ञानतन्तु सजग थे। पीने पर वह हैवान बन जाता था, परन्तु न पिये रहने पर उसका इनसानी दिल पपिहरा के प्रति अगम स्नेह से लबालब रहता था।

वह धीरे से उठा और बाहर जाने लगा।

बसीदा ने पुकार कर कहा—"देख रे लड़के! अगर छोरी पर जरा भी हाथ उठाया तो ठीक नहीं होगा। गलती तो सभी से होती है रसूल!..."

"हाँ दादो! मैंने भी तो गलती की जो उसे अपने पास उठा लाया और पाल-पोस कर इतना बड़ा किया।"

बाहर आकर रसूल अपने झोंपड़े में घुसा। पुकारा—"पपिहा!"

पपिहरा दीवार से कान लगाये बसीदा और रसूल की सारी बातें सुन रही थी। रसूल की आवाज सुनकर चौंक पड़ी। बोली—"क्या है भैया!..."

"इधर आ!..." रसूल का स्वर नम्र था।

पपिहरा धीरे-धीरे उसके सामने आ खड़ी हुई। देखा उसने, रसूल की आँखों के अङ्गारे पानी बनकर पिघल उठे हैं और गालों पर बह रहे हैं।

पपिहरा बेचैन हो उठी। रसूल जैसा राक्षस भी रो सकता है, यह उसने कभी सोचा तक न था। वह दौड़ कर उसके चौड़े सीने से लिपट गई और बोली—"रसूल भैया!...."

रसूल अवरुद्ध कंठ से बोला—"रसूल के मुँह पर तूने गहरा तमाचा जड़ दिया है और जब आँसू निकलने लगे हैं तो घबड़ाई क्यों जा रही है तू?..."

"मुझे मार डालो भैया तुम!..."

"मार डालूँ? जिसे अपनी जान समझ कर जिलाया, उसका खून करूँ?....तुफ है, मेरी मर्दानियत पर...."

"मुझे माफ कर दो रसूल भैया! मैं पापिन हूँ, डायन हूँ, जलील हूँ..."

"चुप रह!....तू मेरी बहन है। अगर ये अलफाज किसी सरे के मुँह से निकले होते तो मैं उसकी जबान खींच लेता....दूतू

इत्मीनान रख ! तूने गलती की है तो हिम्मत के साथ लोगों की इशारेबाजियाँ बरदाश्त कर....''

''मगर तुम ?—तुम क्या सह सकोगे भैया !....खून कर दोगे तुम....''

''नादान लड़की ! मैंने आज से शराब छूने की कसम खाली है....मेरा दिमाग ठीक रहे तो मैं इंसान को पानी-पानी कर दूँ सिर्फ बातों से, खून करने की क्या जरूरत ?...मगर पपिहा ! तूने यह अच्छा नहीं किया। मैंने तुझे पाला-पोसा और उसका बदला तूने मेरी इज्जत को हलाल करके दिया...खुदा की मर्जी ! अब जाकर सो रह....मैं भी बाहर चबूतरे पर पड़ जाता हूँ....''

रसूल बाहर निकल कर पत्थर के चबूतरे पर आ लेटा। घंटों बीत चले परन्तु उसे नींद नहीं आई तो वह उठ कर बैठ गया और माथे पर हाथ देकर सोचने लगा।

आज वह अपने को एकदम असहाय पा रहा था। लगता था, जैसे दुनिया में उसका कोई नहीं। वह अकेला है। जो उसके निकट हैं भी, वे सभी उसकी इज्जत बर्बाद करनेवाले, उस पर हँसनेवाले, उसपर थूकनेवाले हैं।

हमदर्द कोई नहीं, आँसू पोंछनेवाला कोई नहीं, तसल्ली देने-वाला कोई नहीं। सब उसके दुश्मन हैं। सबने इसके साथ दगा की है। सब उसे मटियामेट कर देने पर तुल गये हैं।

रसूल उस रात एक क्षण के लिए भी नहीं सोया। जागता बैठा रहा उसी चबूतरे पर और सोचता रहा। आँखों से आँसू बहते रहे परन्तु वह बेखबर बना रहा।

सुबह हुई, मुर्गे बोले, चहल-पहल मची, सूरज निकला।

पपिहरा सोकर उठते ही बाहर आई तो रसूल को चबूतरे पर चिन्तामग्न बैठे देखा।

''उठ गये भैया !''

"हाँ—अभी उठा हूँ...." जरा-सा मुस्करा कर साफ झूठ बोल गया रसूल। पपिहरा को अपनी व्यथा दिखाकर वह दुःखित नहीं करना चाहता था।

"रात को तुमने कुछ खाया नहीं था भैया! जल्दी से कुछ बना दूँ?"—

"सबेरे-सबेरे लगी सर खाने"—रसूल ने मधुर झिड़की दी—"जा, अपना काम देख। तूने तो इतनी बदनामी दे दी है मुझे पपिहरा कि ज़िन्दगी भर के लिए मेरा पेट भर गया है...तू चली जा अन्दर। ठाकुर दादा के लठैत आ रहे हैं..."

गाँव के ज़मीदार एवं कैलाश के पिता को लोग अक्सर ठाकुर दादा ही कहकर सम्बोधित करते थे।

पपिहरा अन्दर चली गई। दो हट्टे-कट्टे लठैत रसूल के सामने आ धमके। एक बोला—"आज रात में हवेली पर पंचायत होगी। ठाकुर दादा ने तुम्हें आने को कहा है...."

"आऊँगा...." शुष्क-गम्भीर वाणी में बोला रसूल।

"और...." दूसरा लठैत बोला—"पपिहरा को भी पंचायत में पेश करने को...."

लठैत अभी पूरी बात भी नहीं कह पाया था कि रसूल तड़प कर बोला—"चुप रहो। पपिहा गाँव की लौंडी नहीं, रसूल की बहन है। पंचों के बाप भी उसे पंचायत में नहीं बुला सकते... जाओ तुम लोग। ठाकुर से कहना कि रसूल पंचायत में आयेगा मगर पपिहरा नहीं..."

रसूल का क्रोध देखकर लठैतों की लाठी ऊपर से नीचे तक काँपने लगी और वे तुरन्त दुम दबा कर भाग खड़े हुए।

रसूल बड़ी देर तक मौन बैठा रहा फिर उठ कर तालाब की ओर चला गया।

पपिहरा ने लठैतों और रसूल की बातचीत सुनी थी और वह समझ गई थी कि आज भरी पञ्चायत में रसूल का सर जरूर नीचा होगा।

तो वह कैसे बचाये अपने भैया की इज्जत? कैसे विश्वास दिलाये पञ्चों को कि अपराध पपिहरा का है, रसूल का नहीं?

दोपहर को रसूल घर नहीं आया। पपिहरा लिट्टियाँ बनाकर उसकी प्रतीक्षा करती रही। वह भी कम व्यथित नहीं थी, इसीलिये वह स्वयं कुछ खा न सकी।

शाम होने पर रसूल लौटा। पपिहरा ने उसकी मुखाकृति देखकर समझ लिया कि आज उसने पी नहीं है। रसूल का चेहरा गम्भीर था, आँखें स्थिर थीं।

उसने झोपड़ी के कोने में रखा हुआ अपना बरछा उठा लिया और बाहर जाने लगा। पपिहरा ने उसे रोका। बोली—"कहाँ जा रहे हो भैया?"

"पंचायत है आज हवेली पर"—बोला रसूल—"वहीं जा रहा हूँ। देर हो जाय, तो तू खाना खाकर सो रहना—समझी?"

"मगर पंचायत में इस बरछे का क्या काम है भैया?"

"तू समझती नहीं....आज सारा गाँव एक तरफ हो गया है। इस बरछे का मेरे साथ रहना बहुत जरूरी है। पता नहीं, कब इसका काम पड़ जाय..."

"तुम पंचायत में न जाओ भैया!" पपिहरा गिड़गिड़ा कर बोली—"या जाओ तो इस बरछे को यहीं छोड़ जाओ। मुझे डर लगता है रसूल भैया! तुम जाने क्या गजब कर डालो?...."

"मैं अपने होशोहवास में हूँ पपिहा!"—रसूल ने कहा—"खुदा कसम, एक कतरा भी हलक के नीचे नहीं उतारा है। तू घबड़ा नहीं।"

"मुझे भी साथ ले चलो भैया!...."

"चल हट....ज्यादा बकबक करेगी तो कान ऐंठ कर दूँगा दो चपत....कम्बख्त पंचायत में खड़ी होकर मुझे जलील करना चाहती है..."

कहकर बरछा लिये रसूल बाहर चला गया।

पपिहरा खटोले पर आ बैठी। अनजाने में ही आँखें आँसू उगलने लगीं। आज पता नहीं पंचायत में क्या हो? जिस रसूल का सर नींद में भी आसमान ताका करता था, वह आज जमीन की धूल में कैसे लोट सकेगा? जो हमेशा से शेर की तरह दहाड़ता आ रहा था, वह आज हाथ जोड़कर पंचों के सामने कैसे खड़ा होगा?

यह सारा कसूर पपिहरा का है। पपिहरा ने रसूल का सर नीचा किया है। उसे डूब मरना चाहिये। उसे जीने का कोई-अधिकार नहीं।

मगर पपिहरा अपनी जान नहीं देना चाहती। उसके पेट में दीपक की ज्योति पल रही है। वह उस ज्योति की रक्षा करेगी और उसे इस संसार में प्रकाशित करेगी। वह अब बच्ची नहीं, होनेवाली माँ है और एक माँ को अपनी सन्तान का मोह होता ही है।

परन्तु एक दिन, जब कि इस ज्योति से झोंपड़ी की जीर्ण दीवारें आलोकित होंगी तो गाँववाले कितनी आफत मचायेंगे, रसूल का रास्ता चलना मुश्किल हो जायगा, लोगों की कटूक्तियाँ जहरीला तीर बनकर कानों में चुभेंगी।

क्या करे पपिहरा? अपने रसूल भैया को बदनामी से वह कैसे बचाये?

खलील!

खलील उसके बचपन का साथी है। हँसने के समय उसे चिढ़ाया है और रोने के समय उसने आँखों से आँसू टपकाये

हैं। सुख में वह पपिहरा के साथ खेला-कूदा है और दुःख में उसने उसे तसल्ली दी है। अब वही एक सहारा बच रहा है पपिहरा के लिये।

वह अपने खलील के पास जायगी और उसके पैर पकड़ कर कहेगी—'बचपन के साथी! बहुत दिनों तक-साथ साथ खेले हो, अब थोड़े दिनों तक साथ-साथ रो भी लो। मेरी जिन्दगी की नाव आज डूब रही है। थोड़ा सहारा दे दो तुम, तो मैं भी पार उतर लूँ।'

× × ×

"सहारा चाहती है तू पपिहा ?...मेरा सहारा ?"—खलील गम्भीर स्वर में बोला—"मैं तैयार हूँ। मैं तेरा साथ दूँगा, तेरी किश्ती को किनारे से लगाऊँगा...रसूल भैया को बदनामी से बचाना चाहती है न तू? अब सिर्फ एक ही रास्ता है...."

"कौन-सा ?"—

"यहाँ से उड़ चल—कहीं दूर...."

"यह नहीं होगा मुझसे खलील! मैं ऐसा नहीं कर सकूँगी। मैं रसूल भैया को अकेले कैसे छोड़ सकती हूँ ?..."

"तो यहीं पड़ी रह...जिस दिन तेरे बच्चा होगा, उस दिन रसूल का चेहरा गाँव भरके थूकने से सफेद हो जायगा...और याद रख, रसूल भाई जैसा जवाँमर्द तालाब में डूबकर अपनी जान न दे दें, तो कहना...."

"खलील !"—पपिहरा घबड़ा कर बोली—"मैं चलूँगी खलील! जहाँ तुम कहो, वहाँ चलूँ...."

"तुझे मैं शहर ले चलूँगा और स्टेशन के पास लाल कोठी में दीपक की खोज करूँगा....कैलाश भैया ने यही पता बताया था न ?"

"हाँ!..."

"जब वह नहीं मिलेगा तो उसकी खोज करेंगे और अगर मिल गया तो खुदा के फजल से तुझे उसके घर में डाल कर ही छोड़ेंगे...."

× × ×

पञ्चायत!

पंच तो केवल पाँच और देखनेवाले पाँच सौ से भी अधिक।

पंच लोग गद्देदार ऊँचे तख्त पर बैठे हैं। बीच में हैं जमीन्दार ठाकुर, कैलाश के पिता। हवेली का दर्वाजा गैस की रोशनी से चमक रहा है! दर्शकगण नीचे टाट पर चुपचाप बैठे हैं। ठाकुर के पीछे एक हट्टा-कट्टा लठैत उनकी दो नली बन्दूक लिये खड़ा है। अन्य दस-बारह लठैत अदब के साथ चारों ओर खड़े हैं।

काला पहाड़ जैसा रसूल सर झुकाये पंचों के सामने खड़ा है। दर्शकों की आँखें तीर की तरह उसके झुके हुए सर में चुभी जा रही हैं। फौलाद जैसे रसूल की इज्जत आज पानी बनकर बही जा रही है।

"रसूल!..."

"......" रसूल ने बड़े कष्ट से सर उठाकर एक बार ठाकुर की ओर देखा, फिर नजरें नीची कर लीं।

"हम लोग यहाँ क्यों इकट्ठे हुए हैं, इसे जानते हो न?"—

"जनता हूँ ठाकुर दादा!...." बोला रसूल।

"पंचों का फैसला तुम मानोगे तो?"—ठाकुर ने पूछा।

"मानूँगा सरकार!..."

"पपिहरा ने जो कुछ किया है, वह तुम्हें मालूम है?"

"हाँ!...."

"तुमने उसे रोकने की कोशिश क्यों नहीं की?"

"गलती हुई ठाकुर दादा! उसी का अंजाम तो भुगतने आया हूँ यहाँ...."

"पपिहरा की बदचलनी के लिये उसे जो कुछ सजा दी जायगी, उसमें तुम कोई हस्तक्षेप तो नहीं करोगे ?...."

"पपिहरा मेरी बहन है सरकार ! जो भी सजा पंच देंगे, उसे हम दोनों साथ-साथ भोग लेंगे....पंचों से इल्तिजा है कि वे रहम से काम लें। गलती तो सभी से होती है"—

"पपिहरा को पेश करो..." ठाकुर ने आज्ञा दी।

"पपिहरा नहीं आई है ठाकुर दादा !...."

"क्यों ?...."

"वह नहीं आयेगी यहाँ"—बोला रसूल दृढ़ स्वर में—"मैं तो यहाँ मौजूद ही हूँ। फिर उसका क्या काम ?...."

"पंच उससे कुछ पूछेंगे...."

"मैं खुद पंचों का जवाब दूँगा..."

"रसूल !"—ठाकुर तेज स्वर में बोले—"यह पंचायत है। समझे ! तुम्हें पपिहरा को यहाँ लाना ही होगा..."

रसूल अपने को अब तक संयत किये हुए था, मगर उसका क्रोध रह-रह कर उमड़ पड़ना चाहता था।

बोला वह—"पपिहरा यहाँ नहीं आयेगी ठाकुर दादा। रसूल को किसी काम के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता..."

"सारे गाँव की शक्ति से अकेला रसूल लोहा नहीं ले सकता"—गरजकर बोले ठाकुर।

"ले सकता है सरकार ! मेरा बरछा इस वक्त जमीन पर सोया पड़ा है। हाथ में लेते ही इतने भेड़ों में से किसी की भी हिम्मत नहीं कि वह मेरे सामने आ सके...."

"रसूल ! तुम मेरा अपमान कर रहे हो..."

"ठाकुर दादा मेरे बुजुर्ग हैं, मैं उनकी तौहीन कैसे कर सकता हूँ....मगर पंच यह न समझें कि अपनी इज्जत के साथ-साथ मैंने अपनी ताकत भी गँवा दी है..."

रसूल का नीचा सर अब धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा था।

"मालूम होता है कि तुम घर से ही लड़ने का इरादा करके चले हो रसूल !"—ठाकुर ने क्रोधमिश्रित स्वर में कहा।

बोला रसूल—"ठाकुर दादा ! लड़ने का इरादा करके नहीं, हाँ तैयारी करके ज़रूर चला हूँ। लड़ने का इरादा करके चला होता, तो अब तक मेरा सर इस क़दर नीचा न बना रहता"—

कहकर रसूल ने अपना सर एकदम ऊपर उठा दिया और चलती आँखों से एक बार अपने चारों ओर देखा, फिर तन कर खड़ा हो गया। दृढ़ स्वर में बोला—"क्या मैं पंचों से कुछ सवाल पूछ सकता हूँ ?"

"तुम्हरा इरादा क्या है रसूल ? पूछो, क्या पूछते हो ?"

"मैं पूछता हूँ कि आज गाँव के अन्दर दूध से धोया हुआ कौन है ?...जब आस्मान पर टिके हुए चाँद के जिस्म में बड़ा-सा काला धब्बा मौजूद है, तो जमीन के कीचड़ में रहनेवाले इन्सानों की क्या हस्ती ?"—रसूल कहता रहा—"पपिहा नादान है, उसने गल्ती कर डाली—मैं उसका भाई हूँ, मेरी बदनामी हो गई, सर नीचा हुआ। क्या इतने से गाँववालों की निगाहें ठंडी नहीं हुईं ? जलील को पञ्चायत में बुलाकर और जलील करना यह कहाँ का इन्साफ है ठाकुर दादा ? मेरे और पपिहा के मामलों में दस्तन्दाजी करने का पंचों को क्या अख्तियार है ? कोई आस्मान छूये या जमीन पर लेटे, इसमें गाँववालों का क्या इजारा ? नीचे गिरनेवाला खुद ही अञ्जाम झेलेगा...मेरे मुँह पर तमाचे मारने के लिये यह पंचायत इकट्ठी हुई है, मगर मैं इससे घबड़ानेवाला नहीं। यहाँ का हर इन्सान जानता है कि रसूल की आँखें बिजली हैं और हाथ फौलादी शिकंजे....फिर भी....फिर भी..."

"रसूल !...." बूढ़े ठाकुर तीव्र स्वर में बोले—"पंचों को तुम्हारे मामले में हाथ डालने का पूरा अधिकार है। गाँव

कितनी ही युवतियाँ हैं। अगर समाज का बन्धन तोड़ दिया जाय, तो सभी बरबाद हो जायँगी। किसी का डर न रहेगा, सब लोग मनमाना व्यवहार करने लगेंगे। पपिहरा ने अपराध किया है, दण्ड उसे भुगतना ही पड़ेगा....''

"ठाकुर दादा! अगर पपिहा कसूरवार है, तो कैलास भैया उससे भी बढ़कर कसूरवार हैं, जो शहर से जहरी नाग लाकर गाँव में लोगों को डँसने के लिए छोड़ देते हैं....अगर पपिहरा को सजा मिलती है, तो छोटे भैया को उससे भी कड़ी सजा मिलनी चाहिए...मैं पंचों के सामने अपनी यह दरखास्त पेश करता हूँ। कैलास भैया के दोस्त ने मेरी इज्जत बरबाद की और ये देखते रहे, क्या यह कम कसूर है....?''

"रास्ते में सभी जगह काँटे मिलते हैं रसूल! मगर चलने-वालों को देखकर ही चलना चाहिए....पपिहरा ने अन्धी बन कर काम किया है, कसूर उसी का बड़ा है, कैलास का नहीं...''

"कैलास भैया आपके बेटे हैं ठाकुर दादा! इसीलिये बेकसूर हैं, और पपिहरा मेरी बहन है, इसीलिए कसूरवार है....आज सारा गाँव एक होकर मेरी इज्जत ले रहा है...मैं पूछता हूँ कि अगर साँप किसी को डँस ले और पकड़ में आ जाय, तो क्या उसे बिना जान से मारे छोड़ दिया जाता है?....साँप ने मुझे डँसा मैंने उसे पकड़ा, मगर बन्दूक का मुँह दिखाकर मेरे हाथ रोक दिये गये, मैं उस साँप का गला नहीं टीप सका—साँप भाग गया और आज यहाँ पंचायत जुटी है, यह फैसला करने के लिये कि साँप ने मुझे क्यों डँसा? अच्छा इन्साफ है पंचों का....कैलास भैया उस शहरी नाग को यहाँ लावें और मैं उसकी गर्दन तोड़ लूँ, तभी पंचों का फैसला मुझे कबूल होगा, वर्ना....''

"वर्ना क्या?...''तैश में आकर ठाकुर उठ खड़े हुये और गरजे।

"वर्ना मैं इस पंचायत पर लात मार कर घर जाता हूँ। जिसमें हिम्मत हो वह मुझे रोक ले...."

रसूल ने झुक कर अपना बरछा उठाया और जाने लगा।

"ठहरो रसूल !....जान प्यारी हो तो ठहर जाओ...."

सुना रसूल ने। बढ़ते हुए पैर रुके। घूम कर देखा उसने। बूढ़े ठाकुर क्रोध से काँप रहे थे। उनके हाथ की बन्दूक उसके सीने की सीध में थी।

रसूल धीरे से लौट पड़ा। आकर ठाकुर के सामने खड़ा हो गया। बन्दूक की नली उसकी छाती से एक फुट के फासले पर थी।

बोला वह—"मुझे रोकने के लिये बन्दूक की क्या जरूरत ठाकुर दादा ?...रसूल भागना नहीं जानता। ललकारनेवाले के सामने मैं सीना तानकर खड़ा होना जानता हूँ..." रसूल ने अपने कुर्ते की बटनें खोल कर छाती नंगी कर दी—"लो ठाकुर दादा ! तुम्हारे निशाने के ऊपर का पतला परदा भी मैंने हटा दिया है ! जान लेने का शौक हो तो चलाओ गोली और एक मर्द का हँसते-हँसते मरना देख लो, रोते-सिसकते मरनेवाले तो बहुत देखें होंगे...."

ठाकुर की बन्दूक तनी रही, परन्तु गोली नहीं छूटी।

रसूल एक मिनट तक निश्चल रहा, फिर बोला—"मैं जानता हूँ कि ठाकुर दादा के हाथों में बन्दूक पकड़ने की ताकत भले ही हो, मगर दिल में किसी की जान लेने की हिम्मत नहीं...."

रसूल ने अपने कुर्ते की बटनें ठीक कर लीं, फिर पंचायत पर उसकी जलती आँखें उठीं—"मैं चलता हूँ। अगर किसी ने मेरी और पपिहा की इज्जत पर आँखें दिखाई, तो मैं उसकी देखने की ताकत तहोबाला कर दूँगा...."

चला गया रसूल। ठाकुर की तनी बन्दूक टहनी की तरह नीचे झुक गई। किसी ने रसूल को रोका नहीं।

रसूल हाथ में बरछा लिये तेजी से चला जा रहा ६. क्रोध हो आया था, फिर भी उसने पंचायत में यथाशक्ति शब्दों पर अधिकार रखने की चेष्टा की थी !

"पपिहा !" घर आ जाने पर उसने दूर से ही पुकारा।

पंचायत देर तक होती रही थी और इस समय काफी रात बीत चली थी। रसूल दरवाजे के पास आ खड़ा हुआ। फिर पुकारा—"पपिहा !"

रसूल ने दरवाजा छुआ, तो चौंक पड़ा। साँकल बाहर से बंद थी। रसूल के कलेजे का एक कोना तीव्र वेग से धड़क उठा।

बगल में बसीदा का दरवाजा उसने खटखटाया—"बसीदा दादी ! पपिहा तुम्हारे पास सोई है क्या ?"

"रात में भी तू सोने देगा या नहीं ?" –अन्दर से बुढ़िया बोली—"मेरा घर न हुआ, पिंजड़ा हो गया, जो पपिहरा को बन्द करके रखूँगी...."

रसूल ने अपना माथा पकड़ लिया। पपिहरा इतनी रात गये कहाँ जा सकती है ?

वह तेजी से बढ़ चला उसकी खोज करने। सभी सो रहे थे, दरवाजा खटखटा कर सबसे पूछा उसने, परन्तु पपिहरा न मिली।

रास्ते में खलील के अब्बा मिल गये।

"रसूल ! तुमने खलील को देखा ?"

"और तुमने क्या पपिहा को देखा है चचा ? वह तुम्हारे यहाँ तो नहीं ?...."

"नहीं ! खलील भी शाम से ही घर से लापता है—पपिहरा आई थी शाम को, वह उसी के साथ चला गया। कह गया अभी आता हूँ, मगर नहीं आया..."

"दोनों कम्बख्त कहीं चल दिये चचा !...."

कहकर रसूल दौड़ पड़ा वहाँ से और आस-पास के दो-चार

. के गाँवों में पपिहरा की खोज करता हुआ रात भर तक
ता रहा।

सबेरे सूरज निकलते ही वह लौटा। हट्टा-कट्टा रसूल थककर चूर हो गया था। पैरों पर गर्द की तह जमी हुई थी। आँखें आँसू से भरी थीं। आकर धम्म से पत्थर के चबूतरे पर गिर पड़ा।

"क्या है रे रसूल ?...." बसीदा आ पहुँची।

"दादी! पपिहा भाग गई, खलील के साथ—" रसूल रो पड़ा—"शैतान के लिये शराब छोड़ दी, गाँव वालों से झगड़ा किया, मगर बेवफा ने गला काट लिया मेरा....क्या करूँ दादी ?...उसे कहाँ खोजूँ ?...उसके बिना मैं कैसे रह सकूँगा ?...."

"पागल हो गया है क्या ?"—बसीदा बोली—"वह चली गई तो चली जाने दे हरामी को....तू क्यों उसके पीछे अपनी जान दे रहा है ?...."

"तुमने उसे जाने क्यों दिया दादी ?"

"अरे मुये! वह मुझसे कह कर गई थी क्या, जो मैं उसे रोक लेती ?....इतना बड़ा हो गया, फिर भी आँखों से आँसू बहाये जा रहा है!"

"आज पहाड़ से नदियाँ निकल रही हैं दादी!...मैं रोना चाहता हूँ। सारे गाँव को इन आँसुओं की नदी में डुबा देना चाहता हूँ...."

रसूल की आँखें पानी उगल रहीं थी। बर्फ जैसा कठोर कलेजा आज करुणा की गर्मी पाकर पिघल रहा था। फौलाद को पपिहरा ने मोम का टुकड़ा बना दिया था।

पपिहरा को पंख लग गये थे न!

पपिहरा को तो मैंने पंख लगा दिया और वह उड़ भी ग.. है, मगर मेरे पैरों को उड़ना नहीं आया है अब तक। चार कदम चलते हैं, तो चालीस बार लड़खड़ाते हैं। आज चौथा दिन है घर से निकले। पेट एकदम भूखा है और खाली पानी पी-पीकर रहने से यह शैतान चिल्ला रहा है। मगर इसके लिए कहाँ से लाऊँ खाना?

भीख माँगने से मुझे घृणा है, परन्तु पेट के आगे हृदय की क्या हस्ती? सोचता हूँ, अब तो भीख माँगना ही पड़ेगा। आँखें ऊपर नीचे करके अपना वेश देखता हूँ, तो लगता है कि भिखारी भी इन कपड़ों से अच्छा वस्त्र पहनते हैं। एक तो योंही पुराने वस्त्र, दूसरे लगातार चार दिनों तक जहाँ रात हो गई वहीं सो रहने से इनकी धज्जी-धज्जी उड़ गई है।

भिखारियों का वेश हो गया है मेरा और अपने शहर से दूर किसी दूसरे शहर में आ पड़ा हूँ। होगा कोई शहर? नाम से मुझे क्या वास्ता—काबा हो या काशी। हमें यहाँ जानने-पहचानने वाला कौन है? भले ही लोग मेरा नाम जानते हों।

तो यहाँ भीख माँग लेने में कोई हर्ज नहीं है। वह एक देवीजी गंगा स्नान करके आ रही हैं। बड़े घर की युवती हैं। गोरे रंग पर काली साड़ी...किसी के सौन्दर्य से अपने को क्या करना है।

वे सामने आ गई हैं। मेरी हथेली उनके सामने फैल गई है और जबान ने दबी जबान से बोल दिया है—"माँ जी! कुछ मिल जाय?"

"इतने मोटे-तगड़े हो, काम नहीं करते बनता..."

और देवीजी आगे बढ़ गई हैं। क्या गजब की बात कही है उन्होंने कि वाह-वाह! अगर मुझ जैसा सींकिया पहलवान भी

।ड़ा हो सकता है, तो दो मन की तोंदवाले इनके सेठ जी ूर हिमालय ही होंगे।

धन्य हो सेठानी जी! गंगा नहाकर पुण्य लूट लिया, तो गरीबों को दान देकर कौन पाप बटोरे? बदन पर सोने का ढेर लादे हुए सेठानी जी को मुझे एक पैसा भी देना हराम हो गया।

सोने के ढेर।

हाथ में सोने की चूड़ियाँ, उँगलियों में सोने की अँगूठियाँ, साड़ी में सोने की पिन, गले में सोने का हार, नाक में सोने की कील, कानों में सोने के लटकन—

सारे शरीर पर स्वर्ण का भव्य प्रदर्शन!

सोचने लगा हूँ कि आज की दुनिया में इन गहनों के रूप में कितनी अपार सम्पत्ति कैद है कि जिसकी कोई गणना नहीं। इस सम्पत्ति का, इस सोने का कोई उपयोग नहीं। चलायमान लक्ष्मी इन गहनों का रूप पकड़ कर कितनी निश्चल हो गई हैं!

गरीब तड़पा करे और धनवानों के पास स्वर्ण की अपार राशि जेलखाने का कष्ट भोगे। सरकार भी कितनी निकम्मी है कि लक्ष्मी को कैद करने वाले इन धनिकों को सजा भी नहीं देती।

आज सारी दुनिया का यही हाल है और हमारा यह देश तो सबसे अग्रगामी है इस माने में। नारी को आभूषण सबसे अधिक प्यारे हैं, परन्तु क्या कभी उसने यह सोचा है कि जितना सोना उसके शरीर का शृंगार बना हुआ है, वह हजारों-लाखों तड़पते हुओं के पेट भोजन बन सकता है, करोड़ों बीमारों के मौत की दवा बन सकता।

जाने दीजिये—आज नारी स्वतन्त्र है और आजादी पाकर कौन पागल नहीं हो जाता? तो, ये नारियाँ भी पागल हो गई हैं। पति पसीना बहा कर चाँदी उगाता है, तो पत्नी बदन चमका कर सोना पहनती है।

पैर बढ़ते जा रहे हैं। यह है गंगा तट ! प्रसिद्ध घाट, जहाँ स्नानार्थियों की भीड़ कूड़े की मक्खियों की तरह भनभना रही है। नारी और पुरुषों का इस तरह सम्मेलन हो रहा है कि शायद वैसा बिस्तर पर भी न होता हो।

देखिये ! चार युवतियों की गोरी जवानी पानी के अन्दर से चमक रही है और घाट पर खड़े-बैठे हुए कितने ही अपनी आँखें सेंक कर ठंडी कर रहे हैं—सच है यह, सौन्दर्य की आँच पर सेंकने से ये आँखें ठंडी हो जाती हैं—तारीफ तो यही है।

और पुरुषों के मध्य में आकर ये युवतियाँ भी कितनी निर्लज्ज बन जाती हैं कि पूछिये मत। शायद ये घर की दीवारों के अन्दर ठीक से बिजली नहीं गिरा पातीं, इसीलिये गंगा के किनारे खुले मैदान की खोज में आती हैं।

गंगा के किनारे आस्मानी कँगूरे वाले ये मन्दिर, जिनमें पत्थर के देवता निवास करते हैं !...और निर्जीव आँखों वाले ये देवता पुजारियों और भक्तों का अनाचार हमेशा देखा करते हैं ?

और इन देव-मन्दिरों के पीछे अँधेरी गलियों के सीलदार मकानों में बसे हुए व्यभिचार के गुप्त अड्डे भी हैं, जिनमें सेठों से निराश सेठानियाँ, घाटों से बहकाकर लाई गई कामिनियाँ, छू-मन्तर से उड़ाई गई युवतियाँ पुरुषों की वासना शान्त करती हैं।

मानव का भूत जितना उज्ज्वल था, वर्तमान उतना ही कालिमा मण्डित है—भविष्य कैसा होगा इसे कौन जाने ?

देखिये ! उस युवती और युवक की आँखें क्या शान से लड़ रही हैं लोक-लज्जा त्याग कर, कि पतंगें भी वैसी लड़ाइ क्या लड़ेंगी ?

दोनों मेरे बिल्कुल पास मे गुजरे हैं। मैं सुन रहा हूँ।

"चलोगी ?...."

"कहाँ ?...."

"किसी होटल में...."

"........" मौन के रूप में स्वीकृति का लक्षण स्पष्ट हो उठा है।

मैं देख रहा हूँ। थोड़ा-सा आगे बढ़ कर दोनों एक सजे-धजे होटल में घुस गये हैं। अभी भोजन का समय तो हुआ नहीं है, फिर भी दोनों की वासनाओं को तृप्ति का भोजन तो मिलना ही चाहिये—और ये होटल दाल-भात रोटी के साथ-साथ तृप्ति भी परसने लगे हैं आजकल!

यह है काले वर्तमान की एक झलक, जिसके आगे भूत की उज्वलता सिसक-सिसक कर रह जाती है।

लीजिये! भूखा पेट फिर आर्तनाद करने लगा, जिससे पैर थर्रा उठे हैं। मैं सड़क के किनारे बैठ जाता हूँ। बगल में दबी हुई 'पपिहरा' की अधूरी हस्तलिपि को गोद में रख लेता हूँ। आँखें आधी बन्द कर लेता हूँ। सोचने लगता हूँ। और बड़ी देर तक सोचता रहता हूँ।

"चित्रा का क्या लेगा ?" बाबूजी हैं।

"चार आना !...." रिक्शावाला बोला है।

और बाबूजी बैठ गये हैं।

चार आना!

चार कदम ले चलने का चार आना! फिर भी ये रिक्शेवाले अमीर नहीं बन सके ? आश्चर्य है! कितना अच्छा धन्धा है यह!

मैं भी यही काम करने लगूँ तो ?

पेट तो भर ही जायगा, शायद उमराव नहीं, तो अमीर ही बन जाऊँ।

उठ खड़ा होता हूँ। पेट भूखा है, पैर भी कमजोर हैं—फिर भी रिक्शा चला ही लूँगा और कुछ पैसे मिलते ही यह पेट भी भर जायगा, और पैरों की कमजोरी भी दूर भाग जायगी।

उठ कर चल देता हूँ। रिक्शा कम्पनी की खोज में हूँ, जो

मुझे किराये पर चलाने के लिए रिक्शा दे सके। पता नहीं कम्पनी कहाँ है ?

लीजिये, ज्यादा दूर नहीं जाना पड़ा।

यह है रिक्शा कम्पनी और ये हैं खड़े हुए दस-पाँच तैयार रिक्शे।

"क्या चाहता है ?...." सेठ जी बोले हैं।

"एक रिक्शा दे दो मालिक ! पेट भर जाय तो दुआ दूँगा...." उसी लहजे में मैं कहता हूँ।

× × × ×

पैरों में हिमालय जैसी गुरुता आ गई है और पके फोड़े जैसा दर्द भी उठ खड़ा हुआ है। सोचता हूँ, अब रिक्शा चलाना बन्द कर दूँ—यह घोड़े का काम इन्सान कब तक करता रहेगा ? मगर करना ही पड़ेगा। दूसरा कोई रास्ता है नहीं—अगर हो भी तो उसे मेरी कमज़ोर आँखें देख नहीं पातीं। बंगाल की खाड़ी जैसा बड़ा, यह भूखा पेट, जो मेरे कलेजे के नीचे है, उसकी नसें बग़ैर सेर भर खाये तनतीं ही नहीं—यह बैल-सा परिश्रम न करूँ तो खाऊँ क्या ?

यह तीन पहियेवाला सायकिल-रिक्शा भी क्या निकला कि देश के भूखे-तड़पते हुओं के लिये पेट भरने की एक मशीन आ गई। गिरने का भी डर नहीं—केवल हैण्डिल सम्हालने की ताकत चाहिये।

मुझे अच्छी तरह याद है, जब मैं पहले-पहल रिक्शा कम्पनी में गया तो रिक्शे के मालिक ने कहा—"पहले दो-चार दिन तक मश्क कर लो..."

"अरे साहब ! मश्क-वश्क क्या करना है ?—लाइये, अभी चलाकर आपको दिखाता हूँ"—मैंने कहा।

और कूदकर मैं एक खाली रिक्शे की सीट पर जा चढ़ा। पैडिल पर जोर दिया, रिक्शा आगे बढ़ा। और....और....

कम्बख्त हैण्डिल क्या थी, आफत थी—इस तरह नाच कर घूम गई कि मैं तो दंग रह गया और रिक्शा जाकर एक चप्पल-धारिणी देवी के पैरों पर चढ़ गया।

उन देवीजी के तीखे चप्पलों की निशानी, यह देखिये गाल पर अब तक काला दाग बनकर लोट रही है। कभी-कभी उसे छूता हूँ, तो हृदय गुदगुदी से भर जाता है। यह तो एक मादक याद छोड़ गईं हैं वे। बीसवीं सदी की क्रियाशील नारी की यह प्रगति मेरे गाल पर मृत्यु तक अमिट-अमर रहेगी।

मगर यह तो परसाल की बात है। इस साल तो मैं पूरा 'रिक्शावाला' बन गया हूँ। हैंडिल पकड़ूँ या न पकड़ूँ, मजाल नहीं कि रिक्शा किसी देवी के पैर तो क्या, किसी कंकड़ी पर भी चढ़ जाय। अब मुझमें समझ और शक्ति आ गई है। उस दिन अशक्त था तो रिक्शा उन देवीजी के पैरों पर चढ़ गया—और आज सशक्त हूँ तो किसी कंकड़ी पर भी चढ़ने नहीं देता। कितनी शक्ति आ गई है और कितनी समझ—कहाँ देवियों के मासूम पैर, आलता से रँगे और चप्पल से बँधे...और कहाँ रास्ते के उपेक्षित कंकड़, धूल से भरे, कीचड़ में लोटने वाले।

सबेरे उठता हूँ तो भिगोये हुये पाव भर चने का नाश्ता करता हूँ। घोड़ों के लिये चना बहुत शक्तिदायक होता है न! और नाश्ते के बाद रिक्शा लेकर निकल पड़ता हूँ। इसके लिये मालिक को २) रोज मुझे किराये के देने पड़ते हैं और बाकी जो बच जाता है, वह मेरी अकेली ठठरी के लिये घास-भूसे भर को पर्याप्त होता है।

रात में पाव भर 'पीने' भी लगा हूँ। यह व्यसन नहीं, आव-

श्यकता है। रात में पीऊँ नहीं तो सबेरे उठ भी न सकूँ। कमर टेढ़ी टहनी की तरह झुक जाय और पत्ते की तरह काँपने लगूँ।

सुनता हूँ, अब तो सरकार 'पीने' पर प्रतिबन्ध लगाने जा रही है। मैं कहता हूँ इसके बजाय अगर पेट पर प्रतिबन्ध लगा दे या पेट में छुरा भोंक दे तो क्या अच्छा न हो? हम जैसे गरीबों के लिये बोतल का जहर तो अमृत है। सरकार बन्द कर दे पीना तो हम भी देख लेंगे—देख लेंगे कि ये 'सफेद-पोशीय' बाबू लोग किस तरह रिक्शे पर बैठते हैं? रिक्शे भी बोतलों के साथ ही बन्द होंगे, यह निश्चित है। और तब ये बाबू लोग किसी टुटहे एक्के पर बैठेंगे और सेर भर गर्द कपड़ों में लगा कर जब नीचे उतरेंगे तो नाक-भौं मस्तक पर चढ़ा लेंगे। पक्की बात है यह!

शहर में, हम-जैसे पिसते-हुए रिक्शेवालों का एक संघ है। संघ-सँघाती की बातें मुझे कम रुचती हैं। देखिये न! आज हड़ताल पास कर दिया। कोई भी रिक्शावाला नहीं दिखाई पड़ता।

एक मैं ही हूँ, जो इस दलबन्दी से परे हूँ। भूखा मरने लगूँगा तो संघवाले क्या किसी का पेट भरेंगे? सभी रिक्शेवाले तो सेर भर खाते हैं तो किसको-किसको खाना देंगे ये? उन छटाँक भर के बच्चों की बात छोड़िये, जो कल बाहर आये और आज रिक्शे की सीट पर आ बैठे। एक-दो नहीं—सैकड़ों दुधमुँहें बच्चों को रिक्शा चलाते देख लीजिये। बैल की जिन्दगी में बचपन गुजारने वाले ये, कल को जब जवान होंगे तो क्या खाक बल रहेगा इनके शरीर में? मगर आने वाली जवानी का तूफान, ये अन्धे अपने नासमझी-भरे बचपन में कैसे देखें? रोटी का सवाल उनके बचपन की हँसी-खुशी के ऊपर उतरा रहा है। ठीक भी है—बगैर पेट भरे तो जवानी भी नहीं आयेगी, अलबत्ता मौत आ सकती है।

तो मैं आज के दिन 'हड़ताली' नहीं हूँ। अकेला दीख रहा हूँ

इतने बड़े शहर की चहल-पहल के बीच। जिसे देखो वही मेरे रिक्शे पर चढ़ने को तत्पर है। आप ही बताइये, अकेली जान कितनी जानों का बोझ लादती फिरे ?

अच्छा तो है। अगर इसी तरह रोज हड़ताल रहे या सभी रिक्शेवाले मर जायँ तो मैं अकेला कुछ ही दिनों में पूरा सेठ बन जाऊँ। आज एक ही दिन में, सबेरे से अब तक दस रुपये कमा चुका हूँ और अभी चार भी नहीं बजे हैं। या ईश्वर ! रोज हड़ताल रहे।

मगर यह तो स्वार्थ पर उतर आया मैं। दूसरों को मार कर यदि मैं जी ही सका तो ऐसा जीना, मरने से क्या अच्छा है ? नहीं ! सिसकते हुओं के मध्य अगर मैं सेठ ही बन गया तो मैं उस परिस्थिति में जीवित नहीं रह सकूँगा, आत्मग्लानि से।

परन्तु ये सेठ ?

रेशमी कपड़े झलकाते हुए, शाम को वेश्याओं के कोठे पर नज़र आने वाले ये धनवान—इनका अस्तित्व भी तो धोखेबाज़ी और खूनखराबी से ही भरा हुआ है। इनकी तोंद जो इतनी आगे निकल आई है, उसमें ग़रीबों का ही खून तो लहरा रहा है—फिर मैं ही क्यों ग्लानि में डूबूँ ?

खैर ! बनने को तो धनवान बनूँ या गाड़ीवान मगर एक ही दिन में सारी थकान जो बदन का रगरग तोड़े डाल रही है, उसका शमन किस तरह करूँगा, अगर हर रोज ही परिश्रम करना पड़ा तो ? कितना पियूँगा ? शराब कोई पानी तो है नहीं, कि पी-पी कर कुल्ले करते जायँ। फिर शराब को पानी जैसा बहाने के लिये अपने पास साधन भी तो होना चाहिये।

अब तो एकदम से थक गया हूँ, कि यह खाली रिक्शा भी टसकने का नाम नहीं लेता। ये मशीनें भी कितनी वाहियात हैं। इन्सान के हाथों में ताकत न हो तो ये भी बेकार हो जायँ।

एक सूनी गली के नुक्कड़ पर मैंने रिक्शा रोक दिया है। आस-पास कोई नहीं है। देखकर श्रम की साँस लेने लगता हूँ मैं। सोचता हूँ, मनुष्यों की जमात से छुट्टी तो मिली। और ये मनुष्य भी कैसे—कि चाहें तो पीसते-पीसते चटनी बना डालें—चाहें तो मैं दिन-रात, युग-युग तक रिक्शा ही चलाता रहूँ परन्तु चढ़ते-चढ़ते इनका जी न ऊबे—और देने के नाम पर एक इकन्नी—वह भी कभी-कभी रांगे की खोटी।

रिक्शे की गद्दी पर आकर मैं बैठ गया हूँ। रिक्शेवालों को जब कोई सवारी नहीं रहती तो वे ग्राहकों के बैठने वाली गद्दी पर स्वयं ही जा बैठते हैं और एक घड़ी के नवाब बन कर अपने को धन्य समझ लेते हैं।

भई! इस गद्दी पर तो बड़ा आनन्द आता होगा। काश कोई आकर यह रिक्शा चलाता और मुझे अपनी टूटी झोपड़ी तक पहुँचा देता—सुनता हूँ शेख़चिल्ली भी इसी तरह के सपने देखा करता था। मगर सोकर चारपाई पर सपने देखे, तो अच्छा रहता है। दिनदहाड़े, खड़े-खड़े या उठे-बैठे सपने देखने में धोखा हो जाता है।

लीजिये! तो मैं सोता हूँ। थक गया हूँ—चूर-चूर होकर चूरन बन गया हूँ। इस निराली जगह में, रिक्शे की गुदगुदी गद्दी पर आकर घंटे-दो घंटे के लिये नींद आ जाय तो क्या कहना? आँखें भी तो ढँपी-दबी जा रही हैं। सुना करता हूँ कि पलकें यौवन-भार से ही बोझिल होती हैं, दूसरा भार उन्हें दबा नहीं सकता—परन्तु कोई कवि या लेखक इस समय आकर मेरी पलकों में देखे तो दंग रह जाय। मैं भी तो अभी जवान हूँ—क्या हुआ, जो थक गया हूँ।

मैंने आँखें बन्द कर ली हैं। सुषुप्त और जागृति के बीच की

स्थिति में हूँ इस समय। विचार के घोड़े दौड़ चले हैं। जाने क्या-क्या सोचने लगा हूँ।

हाँ! अभी चार महीने पहले की ही तो बात है। एक जोड़ा कबूतर आकर मेरे रिक्शे पर बैठ गया। एक जोड़ा कबूतर! समझे आप? सफेद-पंख—जैसे उजले कपड़े पहने थे दोनों—एक 'था' और एक 'थी'—और दोनों थे जवान।

"कहाँ चलूँ बाबू?"—मैंने पूछा था।

"इम्पीरियल!...." युवक ने कहा और युवती ने साड़ी-विहीन-सर हिलाकर अपनी स्वीकृति दी।

मैं चल पड़ा रिकशा लेकर। अब तो हम रिक्शेवाले भी इम्पीरियल समझने लगे हैं। कहिये तो बता दूं आप से—इम्पीरियल ह्विस्की, इम्पीरियल होटल, इम्पीरियल सैलून और एक इम्पीरियल टाकीज भी है। देखा आपने? मेरा ज्ञान कितना तेज है। और ये दोनों उजले कबूतर किस इम्पीरियल में जाना चाहते हैं—जानते हैं आप? ये जाँयगे इम्पीरियल होटल में—जहाँ युवकों के लिये चटपटा सामान काफी मिलता है। चटपटा माने गोलगप्पा–समोसा ही नहीं–सोडावाटर, जानीवाकर और गोल्डफ्लेक सिगरेट भी दस-बीस रुपये पर रगरग बेंच देनेवाली नमकीन सूरतें भी—यही सब तो चटपटा सामान है। और हमारे कालेजों के अधिकांश विद्यार्थी वहाँ जाते हैं। भाई! दिन भर की पढ़ाई के बाद कुछ गप-शप, कुछ हो-हल्ला, कुछ 'अँखिया लड़ा के जिया भरमा के' भी तो होना चाहिये।

मगर इस युवक, के साथ जो लड़की है वह तो दूध-धोई जैसी लगती है—एकदम छल-छन्द-हीन, शायद बहकाकर लाई गई है।

वह होटल आ गया। मैंने रिक्शा रोक दिया है! दोनों उतर-कर अन्दर जाने लगे तो मैंने रोका "बाबू! मेरी मजदूरी!...."

"अभी रुको—एक घंटे में आते हैं....चलेंगे..." कहकर दोनों अन्तर्ध्यान हो गये।

मैं रिक्शा एक किनारे खड़ा करके उसी पर बैठ गया। पन्द्रह मिनट के बाद ही वह युवती घबड़ाई हुई बाहर दौड़ती आई ! उसके पीछे-पीछे वह युवक भी था।

सड़क पर चहल-पहल नहीं थी—और मैं था भी कुछ अँधेरे में मगर युवती ने मुझे देख लिया। वह दौड़कर रिक्शे पर चढ़ गई—युवक भी दौड़ता आया और उसे नीचे उतारने लगा ! बोला—"अन्दर चलो मीना ! घबड़ाती क्यों हो ?...."

"मैं अन्दर नहीं आती"—मीना ने मीनाकारी की...."नहीं जानती थी कि तुम मुझे ऐसी जगह ले चल रहे हो....मैं हाथ जोड़ती हूँ, मुझे घर जाने दो..."

"अच्छा चलो—मैं भी चलता हूँ"—युवक भी जबरदस्ती उसकी बगल में आ बैठा। उसके मुख से शराब की तेज गन्ध उड़कर मेरी नाक में घुसी। मेरी नाक का रोम-रोम ऐसी गन्ध का अभ्यस्त है।

मैं रिक्शा लेकर आगे बढ़ा। काफी रात बीत चली थी। सड़क मनुष्यों के चरण प्रहारों से थककर विश्राम लेने की सोच रही थी।

एकाएक वह युवती चीख पड़ी, जोरों से। बिजली का लैम्प-पोस्ट पास ही था। मैंने रिक्शा रोक दिया। देखा, शराब के नशे में मदमस्त वह युवक, उस युवती को भरजोर अपने बाहुओं में लपेटे है और वह छटपटा रही है।

मैं रिक्शे से नीचे उतर पड़ा। परन्तु वह युवक ज्यों-का-त्यों रहा। युवती छटपटा रही थी। युवक ने झट एक लम्बा छुरा निकाल लिया। बोला—"चुपचाप रहो—नहीं तो तुम्हारी जान ले लूँगा...."

युवती सन्न रह गई। उसने वैकल्य-भरी आँखों से मेरी ओर

देखा—स्पष्ट याचना थी उन पुतलियों में। मैंने आव देखा न ताव–दन्न दन्न !....

पूछिये मत ! आजकल के इन युवकों में तोले भर से अधिक दम नहीं होता। बाबूजी का चश्मा उधर गिरा, तो फाउन्टेनपेन दक्षिण और स्वयं ईशान कोण की ओर सर करके बेहोशी की नींद लेने लगे।

मैंने डरी हुई उस युवती को उसके घर पहुँचाया। वह मुझपर बहुत खुशी थी। दस रुपये का एक नोट मुझे देने लगी तो मैंने कहा—"मुझे एक रुपया दीजिये। मीना बीबी। यही मेरी मजदूरी है।"

"रख लो इसे तुम !"—

"इस तरह रखने लगूँ तो घर में सोने के लिये भी जगह न रह जाय...."

"अच्छा तो कल दस बजे तुम यहाँ आओगे न !—कालेज चलूँगी...."

"आऊँगा !...."

भला ऐसे मधुर आमन्त्रण का कौन तिरस्कार कर सकता है।

फिर तो दस बजे, चार बजे और कभी-कभी सात बजे शाम को भी मैं मीना बीबी की तामीरदारी में पहुँचने लगा। धीरे-धीरे मीना देवी मेरे लिये एक 'अपनी' चीज हो गई। मगर उनकी आँखें मेरी ओर जब हलाहल भर कर देखतीं तो मैं काँप उठता। सोचता कहीं इस शान्तिमय जीवन में कोई तूफान न आ जाय ?

मगर तूफान आकर ही रहा। एक दिन जब मैं मीना को कालेज से लेकर लौट रहा था तो वे बोलीं—"मुझे अपने घर ले चलो—मैं देखूँगी, कैसा है ?"

घर आया। झोपड़े का दरवाजा खोला। सोचने लगा, इस अन्धेरे में इन्हें कहाँ बैठाऊँ। अन्दर घुसते ही, मीना एकदम मेरे

निकट चली आई—इतने निकट कि दोनों में से किसी के सीने में अगर चुम्बक लगा होता तो हम लोग खिंचकर जरूर एक हो जाते।

"मैं तुम्हें चाहती हूँ"—उन्होंने स्वर में बेकली भर कर कहा।

तूफान का पहला वेग था यह।

और मैं चुप रहा। इधर-उधर देखने लगा कि कहीं कोई मजबूत चीज हो तो उसे पकड़ कर लटक रहूँ—शायद यह तूफान अपने साथ उड़ा ले जाय मुझे।

"तुमने उस दिन मेरी जान बचाई थी"—वे बोलीं—"अब यह जान तुम्हारी ही।'

मैं कैसे उन्हें बताता कि मैं किसी की जान नहीं लेता ?

"मैं तुम्हें इनाम देने आई हूँ..."

इनाम की बात सुनकर मैं कुछ संयत हो गया। पूछा—"इनाम ?....इनाम क्या देंगी आप ?"

"जो कुछ भी तुम माँगो"—उन्होंने कहा और....

और की मत पूछिये। मैं चौंक पड़ा, जैसे कोई नागिन बदन से आ लिपटी हो। चार पग पीछे हट कर बोला—"यहाँ अँधेरा है हजूर। इनाम जो देंगी आप, वह ठीक से दिखाई भी नहीं पड़ेगा—बाहर के उजाले में आकर दें..."

और मैं लपक कर बाहर आ गया।

आज चार महीने गुजर चुके हैं इस घटना को। तब से न तो मैं ही मीना के पास गया और न तो वे ही कहीं मिलीं।

कितनी दूर की घटना सोचने लगा हूँ, इस रिक्शे पर बैठे-बैठे। मगर अब नींद आ गई है।

लीजिये...अब....अब....

"ओ रिक्शेवाले !...."

कान के बिल्कुल पास कोई चिल्लाया है। बेचारी नींद, डर कर पलकों की डाल पर से फर्र-से उड़ गई है। आँखें खोलता हूँ।

अरे! इतना अँधेरा आस्मान का है या मेरी आँखों का या जमाने के दिल का?

बड़ी देर तक सोता रहा हूँ। एकदम अँधेरा हो गया है। देखता हूँ तो दो आकृतियाँ खड़ी हैं बगल में।

"चलोगे स्टेशन?...."

"चलूँगा...."

"क्या लोगे?...."

"दो सवारी हैं?"—मैं पूछता हूँ।

"हाँ!...."

"दोनों मर्द हैं– या कोई औरत भी?"

"तुमसे इससे मतलब?"—हजरत बिगड़ गये हैं। जानते तो हैं नहीं कि आमतौर पर औरतों का वजन गुलाब के फूल भर का होता है और मरदों के वजन की मत पूछिये!...हम लोग मजदूरे हैं न, जितना वजन होगा, उसी हिसाब से मजदूरी भी माँगेगे.... मगर मियाँ क्या समझें?

जी हाँ! ये कोई जवान मौलाना ही हैं। सर पर की कलँगी-दार टोपी और दाढ़ी पर लगाम की तरह लटकती हुई नूर मैं अँधेरे में भी देख रहा हूँ।

"आइये साहब! चार आने दीजियेगा"—मैं कहता हूँ।

"तीन आने में चलोगे?...."

"आइये!..."

मियाँ साहब बैठ गए है। दूसरी छाया जब आगे बढ़ी तो चूड़ियों की खनक से यह स्पष्ट हो गया है कि कोई 'जनाना' साहिबा हैं।

मैं रिक्शा लेकर चल देता हूँ। नींद आने से थके हुए पैरों की

कठोरता कुछ कम हो चली है। बहुत तेज रिक्शा ले जाने लगा हूँ मैं।

तभी मियाँ कहते हैं—"अरे भाई! धीरे-धीरे चलो—भूत की तरह भगे क्यों जा रहे हो?"

लीजिये! मियाँ साहब भी भूत-प्रेत की बात मानते हैं। मैंने रिक्शे की गति आधी कर दी है। तभी रिक्शे पर कुछ कशमकश होने लगती है। ठीक सामने देख रहा हूँ मगर पीछे से आती हुई फुसफुसाहट की आवाज से मेरे दोनों कान घोड़े की कान की तरह सजग हो गये हैं।

"खुदा कसम! एक दे दो...." वह थे।

"क्या दे दूँ?...." वह थीं।

"एक....बस...एक!...तुम्हारे दिल की कसम, बहुत दिनों से बेकरार हूँ—शबारोज तुम्हारी याद सताती है...."

"तुम बड़े वैसे हो—कुछ ख्याल भी है? रिक्शे पर बैठे हो—सड़क है, कोई देख ले तो?...."

"कोई नहीं देखेगा—खुदा कसम! कोई देख भी नहीं सकेगा—यह रिक्शा हमारे लिये जन्नत की सरजमीं है—मुझे नाउम्मेदी में गर्क न करो मेरी जान!....

"देखो....देखो....या अल्लाह! मेरी कलाई!....बड़े संगदिल हो गफूर। जरा ठहरो...उफ़!"

इसके बाद हवा पर तैरती हुई चुम्बन की एक मादक ध्वनि मेरे कानों में आ पड़ी है। मेरा कलेजा धड़कने लगा है। मैं ने एक हाथ से अपना सीना दबा लिया है, ताकि कलेजा छिटक कर हैण्डिल पर न आ बैठे।

रिक्शा तेज कर दिया है मैंने, और आँखें मूँद ली हैं। दूसरों की चुहलबाजी देखकर मैं अपने एकाकीपन पर तड़पने लगा हूँ।

"तभी अब्बा हजूर मुझे तुम्हारे साथ नहीं आने दे रहे थे"—

वह बोली है, जैसे आवाज़ के साथ पीपे का पीपा शहद सड़क पर ढुलक गया हो।

"मगर तुम्हीं तो जिद करके मेरे साथ आई"—वह बोला है—"अब तो दो-चार रोज तक सफ़र में साथ रहेगा ही, फिर इब्तिदा में ही यह ना-नुकर अच्छी नहीं शीरीं...."

मैं सुन रहा हूँ सब—आँखें खोल दी हैं। कहीं किसी पेड़ से टक्कर ले लूँ, तो इन दोनों कम्बख्तों का जन्नत तहोबाला हो जाय।

उसका नाम कितना अच्छा है—शीरीं!

यह लीजिये! रिक्शा इतना हिल क्यों रहा है? सीमेन्ट की सड़क के सीने पर जख्म भी तो नहीं हैं।

"जरा ठीक से बैठिये साहब!"—मैं कहता हूँ—'रिक्शा कमजोर है, कमानी न टूट जाय?"

मौलाना हँस पड़े हैं। मैंने साफ सुना है—सलोने मुख से धीमी खिलखिलाहट भी सुनाई दी है।

लीजिये! स्टेशन आ गया। कितना उजाला है यहाँ। अँधेरे में हिलता हुआ रिक्शा, ऊजाले में आकर सीधा हो गया है।

दो कुली दौड़ पड़े हैं।

एक कहता है—"मेरी बारी है"—

दूसरा—"मेरी है—तू तो अभी ले गया था...."

दोनों झगड़ने लगे हैं। जाने कैसी-कैसी गालियाँ भी दे डाली हैं एक-दूसरे को?

मियाँ रिक्शे पर से उतर पड़े हैं। दोनों को डाँट-डपटकर चुप कराया है—उसमें से एक सूटकेस उठाने लगा है।

मेरे हाथ पर तीन आने पैसे आ गये हैं। रिक्शा भी खाली हो गया है। नजरें बेताब होने लगी हैं, शीरीं का चाँद जैसा मुँह देखने के लिये। देखता हूँ—मगर चाँद पर तो बदली छा गई है। सर से पैर तक बुर्के का आडम्बर पड़ा है—छेद में से दो आँखें

मेरी ओर देख रही हैं। जाने कैसी हैं ये आँखें—कटीली, नुकीली, बाँकी या तिरछी ?

आगे-आगे कुली, उसके पीछे शीरीं और सबसे पीछे गफूर मियाँ—काफिला प्लैटफार्म की ओर चल पड़ा है। मैंने रिक्शा पटरी पर कर लिया है, नहीं तो शायद पुलिस महाशय की आँख करकने लगे और उनका हण्टर गतिमान हो उठे।

एक जोड़ा कबूतर ! मेरी ही ओर आ रहा है। साहब तो पूरे साहब ही हैं। मगर श्रीमतीजी ? अरे ! यह तो मीना बीबी हैं....

मैंने अपना मुँह अँधेरे में कर लिया है। सोचता हूँ, पहचान लेगी तो यह आँधी सूखे पेड़ की तरह उखाड़ फेंकेगी मुझे।

दोनों आकर रिक्शे पर बैठ गये हैं। मान-न-मान-मैं-तेरा मेहमान हो गये हैं।

"कहाँ ले चलूँ हजूर ?" मैं स्वर बिगाड़ कर पूछता हूँ।

यों तो हजूर-सरकार कहना मुझे बड़ा बुरा लगता है। परन्तु पेट में लगी हुई आग की ज्वाला से झुलसकर बेचारी जबान लड़-खड़ा उठती है—तो मैं क्या करूँ ?

"सेठ....की कोठी पर—जगतगंज !..." साहब बोलते भये हैं।

मैं इन सेठ साहब को जानता हूँ। मीना के पिता हैं।

आधे घंटे तक सर्र-सर्र रिक्शा चलाने के बाद कोठी आ गई है। रात के दस बजे हैं। बड़ी-सी हवेली खड़े-खड़े ही सो रही है।

दोनों उतर पड़े हैं।

"लो !..." साहब ने एक एकन्नी हाथों पर रख दी है।

दो आने की जगह यह घिसी एकन्नी ? आधे पेट खाकर कैसे रह सकूँगा ? सो मुँह खोलना ही पड़ा है—"दो आने हुए सरकार !...."

"अबे जा ! दो आने के बच्चे !"—साहब खामखाह पतलून

से बाहर हो पड़े हैं—"एक आने में तो सैकड़ों रिक्शेवाले बिकते हैं..."

बिकते हैं! मिट्टी के मोल! सुनकर मेरा रग-रग घृणा से फड़क उठा है। मैं एकटक देखने लगा हूँ मीना की ओर।

साहब को यह गिद्ध-दृष्टि बुरी लगी है। कहते हैं—"उधर क्या देख रहा है?"

कहता हूँ मैं—"मैं मीना बीबी को जानता हूँ...."

"जानते हो?....कब से?...मीना! तुम भी इसे जानती हो?...."

मीना बीबी मेरी ओर अनजान-दृष्टि से देख रही हैं—शायद पहचानने का प्रयत्न कर रही हों।

फिर कहती हैं—"नहीं तो—मैं इसे क्या जानूँ?...."

"बेहूदा कहीं का!....शरीफ औरतों को घूरता है...."

और चट्ट! चट्ट!

केवल दो तमाचे खाकर जड़ बन गया हूँ मैं। वे लोग तो कोठी के भीतर चले हैं और मैं पिचकारी निकालकर अगले पहिये में हवा भरने लगा हूँ। रास्ते में ही हवा उड़ गई थी।

सड़क पर बैठा हूँ—पिचकारी चला रहा हूँ मैं। सोचने लगा हूँ—यह मीना! जिसकी जान एक दिन बचाई थी मैंने और जो एक दिन स्वयं अपनी जान मुझे दे रही थी—आज इतनी अनजान कैसे बन गई? पैसे का प्रभाव है यह, या सभ्यता का अन्धापन। हो सकता है कि शादी के बाद नजरों का परदा कुछ गाढ़ा हो गया हो।

जाने कैसी ग्लानि उठ रही है। हवा भर चुका हूँ। पिचकारी हाथ में लेकर ग्लानि को दबाने की असफल चेष्टा कर रहा हूँ। मगर....मगर....

खट्ट! खट्ट! और तरतर खून!

हाथों ने सरपर पिचकारी दे मारी है। ग्लानि का यह लाल

परिणाम मस्तक पर से बहता हुआ गालों पर लोट रहा है। खून है यह!

हाथ से छूता हूँ तो हथेली में मेंहदी लग जाती है। खून का यह शृंगार भी कितना अच्छा है—मैं हूँ और यह बहता हुआ लाल-लाल खून!....

बहता हुआ खून लेकर मैं रिक्शे की सीट पर आ बैठा हूँ। थक भी काफी गया हूँ। अतः रिक्शा अपने महल्ले की ओर मोड़ देता हूँ।

जी हाँ! अब तो मैं घर-त्यागी हूँ न। अपना घर इस शहर में कहाँ, सो कुलियों-कबाड़ियों की बस्ती में एक जीर्ण-शीर्ण कमरा किराये पर ले लिया है और उसी में अपना संसार बसा कर सन्तुष्ट हो गया हूँ।

लगभग साल भर से रिक्शेवाले का जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। पेट भर जाता है। रात में मिट्टी-तेल की ढिबरी के क्षीण प्रकाश में थोड़ासा 'पपिहरा' भी लिख लेता हूँ। घर की, गाँव की और देवीजी तथा मुन्नों की याद कभी आती ही नहीं। कितना निष्ठुर हूँ मैं।

कभी-कभी मस्तिष्क में देवीजी के प्रति दया का आविर्भाव होता है, परन्तु दूसरे ही क्षण उससे दुगुनी घृणा उठ खड़ी होती है। पति को त्याग कर 'यार' से आँखें 'चार' करनेवाली नारी को मैं कभी क्षमा नहीं कर सकता।

इस स्थिति में तो मैं अच्छा हूँ। रिक्शा चलाता हूँ, मजे से खाता हूँ और रात के समय थोड़ा-बहुत लिख लेता हूँ।

लीजिये, मेरा घर आ गया। चारों ओर टूटे-फूटे मकानों के बीच एक रही स्थान है। रिक्शा रोक दिया है मैंने और उसके पहियों में ताला भी बन्द कर दिया है कि किसी चोर के हाथों में खुजली न उठ पड़े।

अन्दर आकर ढिबरी जलाता हूँ। दोपहर का कुछ खाना बचा था, सो उसी से पेट-पूजा करने लगता हूँ।

पेट भर गया है और अब चारपाई पर आ बैठता हूँ। ढिबरी पास में रख लेता हूँ। कलम-दावात-कापी उठाकर सजग हो जाता हूँ।

अब लिखूँ!

सो लिखने लगता हूँ।

पपिहरा के चले जाने पर ही रसूल यह जान सका कि उसका कठोर हृदय भी किसी की याद में तड़प सकता है, उसकी आग-भरी आँखें भी कभी आँसू बहा सकती हैं। उसने अब जाना कि वह भी रो सकता है, सिसक भी सकता है, दुखी भी हो सकता है।

रसूल की दुनिया वीरान हो गई। घर की दीवारों का एक-एक ज़र्रा पपिहरा की सूरत पकड़ कर उसकी आँखों के सामने आ खड़ा होता। दिन के समय वह खटोले पर पड़ा-पड़ा घर की दीवारों को देखता और रात में पत्थर के चबूतरे पर पीठ के बल लेटकर आकाश के तारे गिनता। पीना उसने बिल्कुल छोड़ दिया। पपिहरा अपने साथ उसकी यह बुरी आदत भी लेती गई।

अब वह बाहर भी बहुत कम निकलता। खाना दो-एक दिन पर कभी दो-चार कौर खा लेता। पपिहरा को वह कहाँ पाये, उसे कहाँ खोजे? वह तो उसकी सारी मुहब्बत पर लात मारकर चली गई। उसकी जान को वह अपने साथ लेती गई, तो निर्जीव शरीर कैसे हिले-डुले? कैसे धैर्य बँधाये रसूल अपनी तड़फड़ाती तमन्नाओं को?

वह पपिहरा को सिर्फ देखना ..
भले ही उस दिन नशे के शैतान के वश म ..
अस्मत लूटने को तैयार हो गया था, मगर प..
बहन से भी ज्यादा प्यारी है। अभागा रसूल, दुश्मन ..
बहन समझकर तड़प-तड़प उठता है।

सात महीने बीत चुके हैं।

रसूल का भयानक शरीर सूखते-सूखते आधा भी नहीं रह गया है। काले चमड़े पर हजारों जगह झुर्रियाँ पड़ गई हैं। आँखों के अङ्गारे आँसुओं के सागर में डूबकर बुझ गये हैं।

आज उसे बहुत तेज बुखार है। खटोले पर सुबह से ही पड़ा है—इस समय रात हो चली है। पपिहरा होती तो अब तक कितना घबड़ा जाती रसूल को बीमार देखकर। मगर बसीदा बुढ़िया तो उसे केवल धीरज ही बँधाती जा रही है।

"अरे लड़के! तू तो एकदम पागल हो गया है उस छोकरी के पीछे"—बोली बसीदा—"वह चली गई तो जाने दे। घूम-फिरकर कभी-न-कभी अपने-आप आ जायगी। तू क्यों उसके लिये अपनी जान कुर्बान करता जा रहा है?...."

"दादी!"—रसूल ने क्षीण स्वर में कहा—"मुझे समझाने की कोशिश मत करो। रसूल अब बच्चा नहीं रहा, जो पपिहरा को खोकर गुड़िया से अपना दिल बहला सके....वह चली गई है तो मैं रो-तड़प रहा हूँ—वह आ जायगी तो चुप हो जाऊँगा। तुम्हें घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं दादी..."

"अच्छा, अब तू सो जा...."

"तुम सो रहो दादी!"—बोला रसूल—"मेरी बदकिस्मती पर चाँद-सितारे हँस रहे हैं, तो मुझे नींद कैसे आ सकती है?...."

"अच्छा रे, अच्छा! जागता बैठा रह रात भर—मेरा क्या—मैं तो सो ही जाऊँगी...."

ही टाट बिछाकर जमीन पर सो रही।

...। नाक नींद का बाजा बजाने लगी।

। भर जागता, करवटें बदलता, ज्वर से तप्त शरीर

.। रहा।

रात धीरे-धीरे आगे बढ़ती हुई सबेरे के पास पहुँच गई।

तभी रसूल के दरवाजे पर बाहर कोई छोटा-सा बच्चा जोरों से रो पड़ा। रसूल जाग रहा था। अपने दरवाजे पर बच्चे का स्वर सुनकर चौंक पड़ा।

जब बच्चा लगातार बहुत देर तक रोता रहा तो रसूल से नहीं रहा गया। उसने पुकारा—"दादी! ओ...दादी!...."

"क्या है मुए! मुर्गे की तरह सबेरे-सबेरे बाँग देने लगा—पानी लेगा क्या?...अरे! यह तेरे दरवाजे पर कौन-सी चिड़िया बोल रही है?...."

"कोई बच्चा है दादी!...रो रहा है....जरा दरवाजा खोलकर देखो तो।"

"तू ही उठकर देख बुखार के बच्चे!....दिमाग तो ठिकाने है नहीं, बच्चा रो रहा है!...तेरे बीवी भी है या बच्चा ही रोने लगेगा?..."

"तुम तो दादी एकदम बहरी हो गई हो...."

"अच्छा भई! खुदा का नाम लेने के वक्त बहरी-अन्धी मत बना....मैं उठकर देख लेती हूँ..."

कहकर बुढ़िया उठी। झोंपड़े का दरवाजा खोलकर बाहर आई। रसूल जाने क्यों बहुत उत्सुक हो रहा था। थोड़ी ही देर में वसीदा अन्दर आई। हाथों पर मैले कपड़ों में लिपटा हुआ कोई बच्चा था, जो गोद की गर्मी पाकर चुप हो गया था।

"अरे रसूल!...."

"क्या है दादी?"

"गुलाब की पंखड़ी पड़ी थी तेरे दरवाजे पर....देख न! कितनी मासूम बच्ची है यह ..."

बुढ़िया ने जरा-सा कपड़ा उठा कर बच्ची का मुख रसूल को दिखाया। रसूल चुपचाप उसे देखता रहा—एकटक! फिर धीरे से दोनों हाथ फैला कर बोला—"मुझे दे दो दादी, इसे मेरी बगल में लिटा दो...."

बुढ़िया ने चार महीने की उस बच्ची को रसूल के बगल में लिटा दिया। गोरी-गोरी, हृष्ट-पुष्ट गुलाब की पंखड़ी जैसी उस बच्ची को रसूल बड़ी देर तक अपलक देखता रहा।

"दादी!..." बोला वह—"यह किसकी बच्ची है दादी?"

"खुदा जाने....कोई हरजाई फेंक गई होगी इसे तेरे दरवाजे पर....गाँव की तो नहीं मालूम पड़ती...."

"या अल्लाह!"—रसूल सम्हल कर उठ बैठा—"एक पपिहरा गई तो तूने दूसरी को भेज दिया। एक को जिलाया-खिलाया तो वह मेरी जान हलाल कर गई....अब यह दूसरी बड़ी होकर क्या आफत ढायेगी?....दादी! कितनी खुशनुमा बच्ची है यह! देखते ही सच मानों, मेरा सारा रोग काफूर हुआ जा रहा है। देखो तो दादी! शैतान एकदम खामोश है...."

"तेरी तबियत बहलाने को आस्मान से चाँदनी आ उतरी है रे रसूल!...."

"ठीक है दादी! खुदा जानता है कि इस बच्ची ने एक ही लहमे में मेरे अन्दर मुहब्बत का दरिया बहा दिया है....तुमने क्या नाम लिया दादी? चाँदनी न! वल्लाह! नाम भी तुमने ऐसा चुना, जैसे समन्दर से मोती निकला हो..."

रसूल धीरे-धीरे अच्छा होने लगा। उस बच्ची को लेने कोई नहीं आया। रसूल और बूढ़ी बसीदा मिलकर उसे पालने लगे।

चार महीने की चाँदनी इतनी चंचल थी कि हमेशा मुँह पर

मुस्कराहट का चाँद खिला रहता था। रसूल बच्ची को पाकर निहाल हो गया था। सारा स्नेह उसने चाँदनी पर केन्द्रित कर दिया था। परन्तु पपिहरा को वह नहीं भूल सका था।

बच्ची को वह हमेशा गोद में लेकर बैठा रहता। रूई के फाहे से उसे दूध पिलाता। बसीदा अपने बूढ़े हाथों से उसके बदन पर तेल-उबटन मलती और उसकी आँखों में काजल लगाती।

आठ महीने गुजरे तो चाँदनी रसूल को 'बाबा' पुकारने लगी। सुन कर रसूल का दिल हर्ष से गुब्बारा बन गया।

कितना खुश था रसूल! मगर कभी-कभी पपिहरा की याद आकर उसे इतना बेचैन कर देती थी कि वह ठीक से खा-पी नहीं सकता था। जब कभी वह खाने बैठता तो उसे याद हो जाता कि पपिहरा उसे नहीं परस रही है।

रसूल चाहे लाख खुश हो, मगर पपिहरा की याद में वह दिन पर दिन घुलता जा रहा था। उसका बदन केवल लकड़ी का ढाँचा होकर रह गया था।

पपिहरा!

कहाँ होगी वह दगाबाज?

उस रात जब वह बिस्तर पर लेटा तो पपिहरा की याद में उसका दिल जख्मी कबूतर बन गया। वह बड़ी देर तक सो नहीं सका। आँखें अनायास ही आँसू से भरभरा आईं। थोड़ी देर के लिये जब उसे नींद भी आई तो उसने एक भयानक ख्वाब देखा।

देखा—खलील के साथ पपिहरा भीख माँग रही है, लोगों की गालियाँ सुन रही है, और...और एक कार आई तेजी से लपकती हुई। पपिहरा का शरीर कुचल गया। मांस का एक-एक लोथड़ा गर्द भरी सड़क पर छितरा कर चीत्कार कर उठा।

"पपिहा!...." बड़ी जोर से चिल्लाया रसूल।

कि बगल से बूढ़ी बसीदा दौड़ी आई। देखा, रसूल सर पकड़े हुए खटोले पर बैठा था। बगल में चाँदनी चुपचाप सो रही थी।

"क्या हुआ रे छोकरे?"

"दादी!...." रसूल ने अपना सर उठाया—"मैं पपिहा के बगैर जिन्दा नहीं रह सकता। अपने को जिन्दा रखने के लिये मुझे पपिहा को वापस लाना होगा...."

"क्या यह बच्ची तुझे पसन्द नहीं?"

"यह बच्ची मेरे जिगर का टुकड़ा है...मगर यह पपिहा जैसी बड़ी नहीं है, यह मुझे खाना पकाकर नहीं खिला सकती, यह मेरे पैर नहीं दाब सकती, यह मुझे भैया नहीं पुकार सकती.... दादी! पपिहा जो थी, वह यह नहीं है...."

"तू चाहता क्या है?...."

"मैंने एक खौफनाक ख्वाब देखा है दादी!....मैं आज ही, अभी ही पपिहा की खोज में जाता हूँ। जब तक वह नहीं मिलेगी, वापस नहीं आऊँगा...तुम इस चाँदनी का ख्याल रखना, इसे जरा भी तकलीफ न हो। यह समझ लो कि यह भी मेरी जिन्दगी ही है। जरा भी इसे तकलीफ पहुँची, तो मेरी जान निकल जायगी...."

"तू तो पागल हो गया है—जा, जो तेरे मन में आवे कर.... मैं इसे सम्हाल लूँगी...."

रसूल उठा। सन्दूक में से साफ कपड़े पहन कर हवेली की ओर बढ़ा।

ठाकुर बाहर टहल रहे थे। रसूल जाकर उनके पैरों पर गिर पड़ा। ठाकुर ने उसे उठाया।

बोले—"अरे ससूल! कैसा हो गया यह तू?...."

"पहचान नहीं पाये ठाकुर दादा!....यह रसूल की लाश

घिसट कर तुम्हारे पास आई है....तुम्हारी बन्दूक की गोली खाये बगैर ही रसूल मर गया है सरकार !....अब तो दया करो...."

"तुम तो बिल्कुल हड्डी बन गये रसूल !"—ठाकुर बोले—"सुना था कि तुम बीमार थे, परन्तु यह बीमारी का लक्षण नहीं, यह तो घुन लगने का आरम्भ है...."

"मुझे माफ कर दो ठाकुर दादा..."

"बेवकूफ कहीं का !"—ठाकुर हँसे—"जब बदन में ताकत थी, तब बरगद के पेड़ की तरह खड़ा था और जब शरीर शिथिल हो गया तो पीले पत्ते की तरह जमीन पर लोट रहा है....आज-कल के नौजवान कितने शैतान हैं कि जब तक आफत में नहीं पड़ते, तब तक बुजुर्गों की इज्जत भी नहीं करते...बोल, क्यों आया है तू ?....'

"कैलास भैया कहाँ हैं ?"

"तुझे नहीं मालूम ?....वह भी पढ़-लिखकर क्या कम शैतान बना है ?...मैं बुजुर्ग हो गया, सो जमीन्दारी का काम करना तो दूर रहा, बम्बई की किसी फिल्म कम्पनी का दस लाख का शेयर खरीद लिया....आज कल बम्बई की हवा खा रहा है...."

"दीपक का पता तुम्हें मालूम है ठाकुर दादा....शायद पपिहा वहीं गई हो...."

"मुझे उसका पता क्या मालूम ?...एक दिन कैलाश कह रहा था कि वह भी बम्बई में ही डाक्टरी पढ़ रहा है...."

सुनकर रसूल उठ पड़ा।

अब वह कहाँ जाय ? कहाँ पपिहरा की खोज करे ?

मगर रसूल अपने निश्चय का पक्का था। वह बिना पपिहरा की खोज किये घर नहीं जायगा।

लम्बे पैर बढ़ाता हुआ वह बढ़ चला शहर की ओर।

लीजिये, मैं तो घर से निकल ही चुका था, रसूल मियाँ भी ताव में आकर गाँव से चल दिये। बहुत हो चुका। रात भी काफी जा चुकी है। अब कलम को विश्राम देना चाहिये। थोड़ा-सा सो लेना भी जरूरी है। सवेरे से तो फिर घोड़े का जीवन बिताना ही है।

हम रिक्शेवालों का सोना भी क्या होता है, जैसे मल्कुल-मौत की बेहोशी। पड़ गये तो पता ही नहीं लगता कि कब चाँद डूबा, तारे झिलमिलाये, ऊषा हँसी, सवेरा हुआ।

तभी तो सवेरे आँख खुलते ही सूरज की चमकदार रोशनी चारों ओर देख रहा हूँ। आज रिक्शे के मालिक के यहाँ किराया भी देने नहीं गया! सेठ साहब सोचते होंगे, कहीं उनका पाँच सौ का रिक्शा न लुप्त हो जाय।

जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धोकर भिगाये हुए चनों का नाश्ता करता हूँ। फिर दरवाजे में छोटा-सा अलीगढ़ी ताला लगाकर रिक्शे की सीट पर आ बैठता हूँ।

थोड़ी दूर जाता हूँ तो देखता हूँ कि बीच सड़क पर एक साहब की कार 'अड़ियल-घोड़ी' बन गई है। शायद पेट्रोल समाप्त हो गया हो या और कोई खराबी आ गई हो।

मुझे देखकर कारवाले साहब पुकारते हैं—"ओ रिक्शे वाले!...."

मैं रिक्शे से उतरकर पास जाता हूँ—"क्या हुक्म है हुजूर?...."

और नजर जब 'हुजूर' पर पड़ती है तो मैं उन्हें तुरन्त पहचान लेता हूँ। ये वही साहब हैं, जिनकी कार के नीचे मैं एक दिन लेटते-लेटते बचा था। कार की तरफ दृष्टि डालता हूँ तो अन्दर वे साहिबा भी उपस्थित हैं, जिन्होंने उस दिन कहा था कि मेरे बोलने का ढंग निहायत दिलफरेब है और मैं कोई मुसन्निफ यानी लेखक हूँ।

"देखो !...." हजूर बोल रहे हैं, शायद उन्होंने मुझे पहचाना नहीं—"तुम अपने रिक्शे पर उनको घर पहुँचा दो।" फिर वे उन साहिबा से कहने लगे हैं—"शमा ! तुम इस रिक्शे पर घर चली जाओ....मैं कार को ठीक करने का इन्तजाम करता हूँ...."

"जरा जल्दी आना अजीज भाई !..."

कहकर शमा रिक्शे में आ बैठी है। मैं चलने लगा हूँ। सोचता जा रहा हूँ कि शमा रानी भी शायद मुझे पहचान नहीं पाई हैं।

"बायें घूमो !..." शहद जैसी आवाज में उन्होंने आर्डर दिया है।

और मेरा रिक्शा 'लेफ्ट ह्वील—डबलमार्च' करने लगा है।

एक आलीशान कोठी के सामने उन्होंने रिक्शा रुकवाया है और उतर कर सामने खड़ी हो अपना मनीबैग खोलने लगी हैं—"कितना दूँ तुम्हें ?"

"मैं क्या कहूँ हजूर !.... हमदर्दी से दिया हुआ मिट्टी का एक टुकड़ा भी मेरे लिये सोने की मुहर से कम कीमत नहीं रखता.... जो मुनासिब समझें दे दें..."

मेरे बोलने के ढङ्ग ने उन्हें चौंका दिया है। वे मेरी तरफ गौर से देखने लगती हैं—"अरे तुम !....यह रिक्शा कब से चलाने लगे ?...."

"डेढ़ साल से घोड़ा बना हूँ...."

"मगर यह काम तो बेहद जलील है...."

"यह पेट भी तो कम जलील नहीं हजूर ! खाना तो इसे रोज चाहिये ही...."

"तुम कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेते ? पढ़े-लिखे आदमी का घोड़ा बनना ठीक नहीं...."

"पढ़े-लिखे आदमी तो आजकल गदहे बन गये हैं, मैं तो

सिर्फ घोड़ा ही बना हूँ...हाँ! हजूर ने यह कैसे जाना कि मैं पढ़ा-लिखा हूँ ?...."

"अजी हमारी नजरें कसौटी हैं, जो सोने को फौरन पहचान लेती हैं...."

"हजूर की नजरें पारस हैं कि लोहा भी सोना बन जाता है..."

"उफ !" शमा ने मीठी आँखों से मेरी ओर देखते हुए कहा है— "तुम्हारे अल्फाज कितने हसीन हैं! तबीयत करती है कि हमेशा सुनती रहूँ तुम्हारी बातें...तुम मेरे यहाँ नौकरी करना पसन्द करोगे ? कहो तो अजीज भाई से कहूँ। तुम्हें यहाँ कुछ भी काम नहीं करना पड़ेगा। यह रिक्शा चलाना छोड़ो ...."

मैं सोचने लगता हूँ—घोड़े की जिन्दगी से तो नौकरी ही अच्छी !

कहता हूँ—"नौकरी करने से मुझे एतराज नहीं। जहाँ पेट भर सके, वहीं हमारा जन्नत है हजूर !"

"देखो !"—शमा जरा-सा हँस कर बोली है—"मुझे हजूर मत कहो तुम....मेरा नाम शमा है...."

"मैं आपका नाम जानता हूँ...मगर बेजबान परवाना शमा का नाम लेकर कैसे पुकारे ?"—कह कर मैं सीधे शमा की आँखों में देखने लगा हूँ।

उसकी आँखों की पुतलियाँ एक बार जैसे शराब के प्याले में लहरा कर बेहोश हो पड़ी हैं।

कहती है—"परवाना क्या तनख्वाह चाहता है शमा से ?"

"परवाना तनख्वाह नहीं चाहता..."

"तो ?..."

"वह सिर्फ जलना चाहता है, अपनी जान कुर्बान करने का ख्वाहिशमन्द है"—मैं लेखक हूँ न, सो मेरे लिये ऐसी मुहावरेदार भाषा में बात करना बहुत सरल है।

परन्तु मैं देख रहा हूँ शमा मेरे शब्दों का दूसरा ही अर्थ लगाती जाती है।

कह रही है बेहोशी-भरी आवाज में—"तो कल से आ जाना तुम यहाँ...."

और दूसरे दिन से मैं शमा और अजीज का नौकर बना गया हूँ।

दोनों शरीफ हैं। पढ़े-लिखे, आला खानदान के। धन की ॱ नहीं, नौकरों का अभाव नहीं—सो मुझे कुछ भी काम नहीं ॱरना पड़ता, उल्टे दूसरे नौकरों पर हुक्म चलाना पड़ता है।

शमा रानी तो मुझ पर फिदा हैं ही, अजीज भाई भी कम मेहरबान नहीं। मेरे दिन जैसे बादशाहत करते गुजर रहे हैं।

चार महीने इस तरह से गुजर गये हैं, जैसे चार मिनट। पता ही न लगा कि कब आये, कब गये। अजीज भाई तो दिन भर अपने आफिस में ही व्यस्त रहते हैं और मैं शमा के 'यह करो—वह करो' का पालन किया करता हूँ।

मैं देख रहा हूँ कि शमा दिन पर दिन मेरे पास आती जा रही है। मैं बचना चाहता हूँ, मगर कैसे बचूँ? रात-दिन तो शमा का साथ रहता है तो परवाना कब तक न जलेगा?

उस दिन!

अजीज और शमा सबेरे की चाय पी रहे हैं और बहस भी करते जा रहे हैं। दोनों ज्यादातर अंग्रेजी में ही 'टाक' कर रहे हैं। मैं सुन रहा हूँ। शौक पैदा हो रहा है मुझे भी 'टाक' करने का, सो दो-एक बातें बोल ही देता हूँ।

अजीज भाई चौंकते हैं—"वल्लाह! तुम अंग्रेजी भी जानते हो?"

"थोड़ी...."

"अजीज भाई!"—शमा रानी बोल रही हैं—"एक दिन ये तुम्हारे कमरे में बैठे हुए 'दी गुड अर्थ' पढ़ रहे थे और बड़बड़ा

रहे थे—'इससे खराब नावेल मेरे नहीं होते'—मैं एक-ब-एक ही उधर जा पड़ी थी। इन्होंने कहा था कि अजीज भाई से मत कहना..."

"तो यह बात है!...कहाँ तक पढ़े हो ?...."

"अंग्रेजी और हिन्दी में एम० ए० हूँ, बस...." मुझे बताना पड़ा है।

"और उर्दू ?"

"उर्दू मैंने पढ़ी नहीं, आप लोगों की मिहरबानी से थोड़ा-सा सीख लिया है..."

"मरहबा! कितनी अच्छी उर्दू बोल लेते हो तुम!...मगर हमसे अब तक छिपे क्यों रहे हजरत ?"

"चाँद कभी-कभी मजबूरन बदली में छिप जाता है अजीज भाई!" शमा ने कहा है।

"तू ठीक कहती है शमा!....आज से मैं इसे अपना सेक्रेटरी बनाता हूँ। इसका खाना भी हमारे साथ ही पका करेगा। तू इसके साथ बाजार जाकर इसके लिये अच्छे कपड़े खरीद दे..."

दूसरे ही दिन से मैं 'मार-मारकार हकीम' बना दिया गया हूँ, यानी अजीज भाई का सेक्रेटरी हो गया हूँ। काम कुछ ज्यादा नहीं—केवल मिलने-जुलने आनेवालों की अभ्यर्थना करना, दो-चार-दस पत्रों के जबाब देना और घर के अन्दर अजीज और शमा के साथ खाना खाकर अपने कमरे में सो रहना—यही सारा तो काम है। कभी-कभी शमा को सिनेमा दिखाना या बाजार की सैर कराना भी जरूरी हो जाता है।

मेरी वेश-भूषा भी बड़ी हसीन हो गई है। चूड़ीदार पाजामे पर चूड़ीदार कुर्त्ता, पैरों में चमकते हुए काले पम्प शू और सर पर खुशबूदार तेल से सींचे हुए लम्बे-काले बाल।

शमा तो जैसे आजकल परवाना बन गई है मेरे पीछे। रात

को जब सोता हूँ तो स्वयं अपने हाथों से शीशे की गिलास में सफेद दूध भर लाती है। मैं दूध पीता जाता हूँ और उसकी मीठी-मीठी बातें सुनता जाता हूँ। शायद मीठी-मीठी बात वह इसलिये करती है कि मुझे दूध में शक्कर की जरूरत न पड़े और उसके नाजुक हाथ तकलीफ से बचे रहें।

मुझे लगता है, जैसे मैं तेज नदी की धारा में बहा जा रहा हूँ। पलंग पर सोया-सोया छत का शमादान देख रहा हूँ। रात के दस बज गये हैं। अजीज भाई क्लब या सिनेमा की सैर कर रहे होंगे।

शमा को दूध का गिलास लिये खड़ी देखकर मैं पलंग पर उठकर बैठ जाता हूँ। दूध का गिलास हाथों में लेकर चुपचाप पीने लगता हूँ। निगाहें तिरछी करके शमा की ओर देखता हूँ। उसकी साँस तेजी से चल रही है। शायद जवान सीने के अन्दर कोई गहरा तूफान उठ रहा है।

दूध पीकर मैंने गिलास नीचे रख दिया है।

एकाएक शमा मेरे पलंग पर बैठ जाती है, सटकर! मुझे लग रहा है कि नेगेटिव और पाज़िटिव के करेंट एक होकर कहीं बिजली की सृष्टि न कर दें।

"तुम आज चुप क्यों हो?...." उसने मेरे कन्धे पर अपना हाथ रख दिया है कि मेरा कलेजा धड़ककर आसमान पर चढ़ जाना चाहता है।

बोलता हूँ—"नहीं तो—चुप कहाँ हूँ? चुप तो तुम्हीं हो.... तबियत नासाज़ है क्या?"

शमा—"हाँ! थोड़ा-थोड़ा बुखार है...."

मैं—"जबान दिखाओ तो....

शमा—"मुँह में जबान ही होती तो तड़पना किस बात का था?"

मैं उसकी दाहिनी कलाई अपने हाथों में पकड़ कर नब्ज देखने

लगा हूँ। दिल के तूफान का झोंका उसकी नब्ज़ को झकोरे दे रहा है।

"तुमने अपना नाम नहीं बताया !...." वह धीरे-से कहती है।

"सैकड़ों बार तो बता चुका हूँ कि मेरा नाम राजा है..."

"मगर यह नाम तो मुझसे पुकारते नहीं बनता...."

"क्यों ?"

"मुझे शर्म लगती है..." उसने कहा है और अपने नाजुक हाथ मेरे गले में डाल दिये हैं।

मैं निश्चल बैठा हूँ। उसका मुख मेरे कन्धे पर टिका है। उसकी आँखें अपना हलाहल मेरी आँखों में भरती जा रही हैं।

"शमा !"

अरे ! मेरी आवाज इतनी बेसुध-सी क्यों है ?

"कहो !...." शमा का स्वर भी तो बेहोश हो रहा है।

"तुम कहाँ जाना चाहती हो ?"

"कहीं नहीं...खुदा के लिये मुझे अपने पास रहने दो...."

"क्या चाहती हो तुम मुझसे शमा !...."

"मैं खुद नहीं जानती...."

एकाएक मेरा मस्तिष्क सजग होता है। जिस खेल की रचना मैं अपनी लेखनी द्वारा करता रहा हूँ, क्या वही खेल आज स्वयं खेलने लगूँगा ?

नहीं !

शमा नादान है परन्तु मेरे अन्तर का लेखक तो जागरुक है न ?

मैं गिरूँगा नहीं।

पत्नी को दूसरों से हँसते-बोलते देखकर मैंने घर त्याग दिया था, और आज मैं स्वयं पथभ्रष्ट होने पर तत्पर हूँ।

कितना नीच हूँ मैं !

देवीजी ठीक ही कहती थीं कि पुरुष चाहे सैकड़ों नारियों से हँसे-बोले परन्तु एक नारी का अपने पति के मित्र से भी मिलना पाप है—कितना कटु व्यंग था परन्तु कितना सत्य !

मैंने शमा का हाथ पकड़ कर उसे बलपूर्वक अपने से अलग कर दिया है और दूध से निकाल फेंकी गई मक्खी की तरह वह डबडबाई आँखों से मेरी ओर देखने लगी है।

"शमा !...." मैं कहता हूँ—"मुझे यहाँ रहने देना चाहो, तो अपने को सम्हालो...."

"डाल से टूटा हुआ फूल कैसे सम्हल सकेगा राजा !...."

"तो मैं आज ही यहाँ से चला जाऊँगा...."

और आधी रात को जब सारा संसार नींद के मजे ले रहा है, मैं निकल पड़ा हूँ शमा के घर से। फिर कभी यहाँ न आने की कसम खा ली है।

एक हफ्ते से चारों ओर भटकता फिर रहा हूँ मगर दिल को चैन नहीं आ रहा है। शमा ने मुझ पर जादू कर दिया है। उसके अहसान रह-रहकर मुझे वापिस चलने को बाध्य कर रहे हैं। उसकी आकर्षण-शक्ति मुझे खींच रही है।

और आठवें दिन मैं अजीज भाई के सामने खड़ा हूँ।

"अजी, तुम कहाँ चले गये थे ?..."

"एक जरूरी काम था अजीज भाई !...."

"देखो, अब बिना कहे कहीं मत जाना...."

शमा दिखाई पड़ती है तो देखता हूँ कि चेहरा सूखा, आँखें नम—जैसे शुष्क रेगिस्तान में पानी के दो छोटे-छोटे स्रोत।

वह मुझसे बिना कुछ बोले दूसरी ओर चली गई है।

मैं फिर से अपना काम देखने लगा हूँ। दिन गुजरते जा रहें हैं। शमा जल रही है, मगर चुप है। जब से आया हूँ, एक शब्द भी मुझसे नहीं बोली है। रात में दूध का गिलास अब भी

दे जाती है। हमलोग साथ-साथ चाय पीते और खाते भी हैं, मगर शमा की जबान में तो फफोले पड़ गये हैं कि उससे बोला ही नहीं जाता।

जब-जब शमा की ओर मैं देखता हूँ तो लगता है वि अन्तर में आग और आँखों में सागर छिपाये वह खामोश है। दिल का बाँध जाने कब टूट जाय, आग जाने कब भड़क उठे, सागर में पता नहीं कब उभार आ जाय।

दो महीने बीत चुके हैं। शमा की दशा देखकर आज मुझे आँसू आ रहे हैं। दिल तड़प रहा है। दूध देकर जाते वक्त वह एक कागज मेरी गोद में फेंक कर चली गई है।

मैं पुकारता ही रह गया हूँ—"शमा! सुनो तो—यह कैसा कागज है ?...."

उसने सुनी है कि मेरी पुकार, फिर भी चली गई है। मैं उस कागज को उठाकर खोलता हूँ। शमा की ही लिखावट है। पढ़ने लगता हूँ—मेरे दिल !

लोग कहते हैं कि दिल जब बेकरार होता है, तो रोता है, तड़पता है, हाय-हाय करता है, मर कर जीता है और जी कर मरता है। लोगों का यह कहना आज मैं भुगत रही हूँ! हमारा दिल सचमुच बेकरार है, आँखें रो रही हैं, जबान हाय-हाय रट रही है। कसम तुम्हारी, रोज लाखों बार जीते-मरते हैं हम।

तुम कहोगे क्या फजूल की बकवास शुरू कर दी हमने। मगर क्या किसी को अपना दर्द सुनाना बेजा है, बकवास है ? हमारे दिल में बैठ कर वहाँ का एक-एक कोना दर्द से भर दिया है तुमने। तो क्या तुम चाहते हो कि हम रोयें भी नहीं, तड़पें भी नहीं, हाय-हाय भी न करें ?

इतने जालिम न बनो। हमारा दिल बेहद मासूम है। वह सब कुछ बरदाश्त कर सकता है, मगर तुम्हारा दिया हुआ दर्द उसके

लिए नाकाबिले बरदाश्त है। तुम नादान हो, दूसरों को रुलाना ही सीखा है तुमने, कितनों को तड़पाते रहे हो तुम अब तक—खुदा ही जाने। मगर हमारे पर तो तरस खाओ सितमगर। हमारी जान लेकर क्या करोगे तुम ?

मौत भी तो जान की भूखी रहती है—मगर मौत की तरह खौफनाक तो तुम नहीं हो मेरे दिल ! तुम तो हसीन हो, मानिन्द चाँद हो। तुम्हारी सूरत में सूरज की रोशनी है, तुम्हारी आँखों में लबरेज हुस्न है, तुम्हारे गालों पर गुलाब की लाली है, तुम्हारे होठों में शहद का दरिया है, तुम्हारे दाँतों में मोती की चमक है, तुम्हारी हँसी में फूल की मुस्कुराहट है, तुम्हारी साँस में हिना की खुशबू है, तुम्हारी आवाज में बाँसुरी की मिठास है, तुम्हारे नक्शो निगार में बेबहा मासूमियत है, तुम्हारे हाथों में कमलनाल की खूबसूरती है, तुम्हारी कलाइयों में मोम की मुलायमियत है, तुम्हारी उँगलियों में इशारों की बिजली है...

मेरे मासूम, भोले दिलवर ! तुम्हें कहाँ तक गिनाऊँ कि तुममें क्या-क्या खूबियाँ हैं। तुम तो खुदा की कारीगरी के नायाब नमूने हो। तुम्हारा हुस्न आँखों में समा लेने की चीज है, जबान से बयान करने की नहीं।

खुदा तुम्हारे दिल में भी दरियाये-बेकरारी लहराये, तुम्हें भी दर्देदिल उठे, तुम भी किसी की मुहब्बत में हैरानोपरेशान हो, तुम्हारी आँखों में भी उल्फत के आँसू आयें, तुम्हारी जबान भी 'मुब्तिलायेइश्क हुए, जान गवाँ बैठे हम' की रट लगाये, तुम्हारे चेहरे पर भी शोखी की लाली के बजाय मुहब्बत का साया छाया हो, तुम्हारा नाजुक दिल भी कबूतर की तरह पर फटफटा कर तड़पे, तुम्हारा कलेजा भी तीर खाकर जख्मी हो, तुम्हारी साँस भी मुहब्बत की हाय लेकर निकले—तभी जानेमन तुम दूसरों का दर्द समझ सकोगे। यह याद रखो तुम कि मरे हुए को मारना नहीं

अच्छा, सताये हुए को सताना बहुत खराब, चोट खाये हुओं पर चोट करना निहायत जलील, और तड़पते हुओं को तड़पाना बेहद बुरा है।

हम तो पहले से ही बेकरार हैं। कलेजे पर हजारों तीर खाते-खाते कितने ही जख्म उभर आये हैं। दिल का शीशा हसीनों ने सैकड़ों बार पत्थर पर पटक कर चूर कर डाला है। फिर भी हम अब तक चुप थे। सोचा था, कभी कोई मरहम लगानेवाला मिलेगा, तो सारी बेकरारी दूर हो जायगी, हजार-हजार जख्म मिनट भर में अच्छे हो जायँगे, दिल का शीशा एक ही लहमे में जुड़ जायगा।

मगर खुदा की कारीगरी के आगे सभी मात! एक तुम भी मिले तो दिन दूना रात चौगुना घाव करने वाले, दूसरों से बढ़ कर तड़पानेवाले, बगैर खंजर के ही आँखों से दिल पर गहरा जख्म करनेवाले। तुम्हें क्या कहें सितमगर? तुम्हें किस तरह समझायें कि हमारे दिल में तुम्हारी मुहब्बत की बेचैनी है, हमारी आँखो में तुम्हारी सूरत सीरत का साया है, हमारी रग-रग में तुम्हारी अदा बस गई है? हम कैसे बतायें कि हम तुम्हें प्यार करते हैं। तुम्हारे ऊपर यह धड़कता-सिसकता दिल न्योछावर हो गया है। ये तड़पती आँखें हमेशा तुम्हें देखने को मुन्तजिर रहती हैं। जब तुम सामने नहीं रहते तो दुनिया अँधेरी हो जाती है, दिल का दर्द बढ़ जाता है, आँखें रो पड़ती हैं, जबान 'आ मौत मुझे ले चल' पुकारने लगती है और जब तुम आकर सामने खड़े हो जाते हो तो लगता है चाँद जमीन पर उतर आया है, दीवारें हँसने लगती हैं, दिल धड़कते-धड़कते बन्द हो जाना चाहता है, खुशी का अय्याम सम्हालना मुश्किल हो जाता है। तुम्हें देखते बैठे रहते हैं हम। तुम्हारी मीठी आवाज सुनते हैं, तुम्हारा चहकना भला मालूम होता है, तुम्हारी मुस्कान दिल की एक एक शिकन पर नक्श हो जाती है, तुम्हारी 'कुछ कहती-कुछ मुस्कुराती' आँखें जिगर की तह तक

पहुँच कर तूफान उठा देती हैं। मेरी जान! तुम्हीं बताओ, तूफान का सामना कोई कब तक कर सकता है?

हमें याद है वह दिन! सबेरे का खुशनुमा सूरज, रात भर के भींगे हुए आस्मान पर धीरे-धीरे चढ़ रहा था। तुम मिले थे हमसे। मिले तो क्या थे, जिन्दगी भरके लिए दर्द देकर तड़पाने आये थे तुम जालिम! मुजतरिब निगाहों ने तुम्हें देखा। दिल धड़का। आँखें फड़कीं। और कलेजे में बैठे हुए खुदा ने कहा—'यही है तुम्हारा दिलबर! जिसकी तलाश तुम्हें बहुत दिनों से थी।'

हमने भी एक नजर तुम पर डाली और दिल थाम कर बैठ रहे! हमारी आदत इतनी मासूम कि एक नजर में किसी पर फिदा होना हमारे लिये बहुत मुश्किल। मगर जालिम! तुम अपने साथ न जाने कैसा चुम्बक लाये थे कि एक ही नजारे में मुझे खींच लिया।

पहली ही मुलाकात में मेरा दिल छीन कर, मुझे बरबाद कर, मेरी दुनिया में अँधेरा फैला कर तुम चले गये। फिर बहुत दिनों तक तुम्हें नहीं देखा। हम तुम्हारा इन्तजार करते रहे, तुम्हारी राह देखते रहे, मगर बेकस निगाहों के सामने बहुत दिनों तक तुम्हारी सूरत नहीं आई।

बहुत दिन बाद आस्मान की बदली हटी, अँधेरे के दामन में चाँद मुस्कुराया। तुम दुबारा मिले और हमें राहत हासिल हुई। तुम मुस्कुराये, हम पर बिजली गिरी। तुम बोले, हमने कलेजा पकड़ लिया। तुम हँसे तो फूल बरस पड़े। तुम जाने के लिये घूमे तो बिना बुलाये मौत आ गई।

मगर यह सच है कि 'मुमकिन नहीं कि दर्द इधर हो, उधर न हो'—सो तुम्हें भी मेरे बेताबियेदिल ने कुछ बेकरार किया। तुम हमारे यहाँ रहने लगे। मीठी-मीठी बातों में घंटे, मिनट बनकर गुजरने लगे।

फिर तुम हमसे रूठकर कहीं चले गये। न जाने कब तक

लौटोगे। तड़पन फिर बढ़ चली और तुम तो इतने जालिम कि दूर देश से एक खत भी न डाला। पूछा भी नहीं कि हम जीते हैं या मौत का कारवाँ हमें ले उड़ा।

हमने बेकरारी बरदाश्त की और उसका फल बड़ा मीठा निकला। तुम्हें लौटना ही पड़ा। तुम्हें देखकर कितनी खुशी हुई हमें, कि यह छोटी सी जबान बयान नहीं कर सकती। बयान करने के लिये मुसन्निफ की कलम या शायर के अलफाज चाहिये। मगर तुम तो जानते ही हो कि हम कोई मुसन्निफ नहीं, शायर नहीं—एक छोटे से मरीजेइश्क हैं।

दूसरा दिन हमारी जिन्दगी का निहायत खुशनुमा दिन साबित हुआ। तुम्हारे साथ हम घूमने निकले। रिक्शे पर नजदीक बैठे हुए हम-तुम शहर घूमे और हाथ में हाथ दिये हुए बाजारें भी देखी। उफ! हाथ में हाथ! जैसे हमारे खाली हाथ बहुत दिनों के बाद चाँद पकड़ सके हों! भूल गये हम! तुम्हारे साथ घूमते रहे। तनबदन की सुध नहीं रही। बेहोश थे हम—आँखें बाजार तो क्या, सिर्फ तुम्हें देख रही थी और तुम थे कि बाजार की रंगीनी देखने में ही मुब्तिला थे कितने बेखबर हो तुम, कितने जालिम! कोई तुम पर मरे और तुम देखते रहो, कोई तुम्हें देखे और तुम मुँह छुपा लो, कोई तुम्हें प्यार करे और तुम जलाओ—खुदा कसम! एक दिन तुम भी जलोगे, तड़पोगे—कहे देते हैं हम "तड़पोगे फरियाद करोगे, एक दिन मुझको याद करोगे।"

अब यह तो बताओ भोले बालम, दिल के मालिक, जिगर के राजा! कि इस कदर मायूसी में मुझे कब तक गर्क रक्खोगे? कब तक मेरा सिसकना देखकर मुस्कुराते रहोगे? कब तक दिल की दुनिया में आग लगाकर लपटों का तमाशा देखते रहोगे?

सभी के दिन फिरते हैं सनम्! रात के बाद दिन होता है,

सूरज की गर्मी के बाद चाँद की ठंढक छिटकती है, पतझड़ के बाद हरियाली आती है, आँसू के बाद हँसी का जमाना गुजरता है।

मगर हमारे दिन तो कभी नहीं फिरे। हमारी रातों ने दिन का मुँह तक न देखा। हमारा सूरज हमेशा गरमी ही उगलता रहा। हमारी जिन्दगी पतझार ही बनी रही। हमारे आँसू कभी सूख नहीं पाये।

और यह सब किसकी वजह से हुआ? तुम्हारी वजह से सितमगर! सिर्फ तुम्हारी वजह से। तुम दूसरों से खेलते रहे, दूसरों का दिल बहलाते रहे, दूसरों को आबाद करते रहे—और हमारी याद तक तुम्हें न आई।

हमने तुमसे साफ़-साफ कहना चाहा, इजहारेतमन्ना तुम्हारे सामने रखनी चाही, मगर कहर खुदा का, ऐन वक्त पर जबान धोखा देती रही। हम बेजबान हैं, मुँह से कुछ कह नहीं सकते। और इशारों की बात तुम समझते नहीं। बड़ी मुश्किल है जानेमन!

दिल की बेसब्री का अन्दाजा लगा सको तो लगाओ। आँखों की बेकरारी देख सको तो देखो। दिल की धड़कन सुन सको तो सुनो।

मगर हम जानते हैं कि तुम तड़पानेवाले हो और तड़पानेवाले किसी का दर्द क्या समझें? इसीलिये यह खत लिख रहे हैं हम। इसे गौर से पढ़ना। पढ़कर फाड़ मत देना! इसका मुझे जबाब चाहिये। तुम मुझे कब तक जलाते रहोगे? बोलो मेरे दिल! मुँह से न बोल सको, तो अपने दिल की बात कागज के एक छोटे से टुकड़े पर लिखकर भेज देना। हमें राहत मिलेगी। हमारे लिये तुम्हारे दिल में जगह न हो, तो भी साफ-साफ लिख देना। अल्लाहताला की कसम! हम जरा भी बुरा न मानेंगे।

देखो, जिगर की रोशनी तुम हो, चाँद की चाँदनी तुम हो,

दिल की राहत तुम हो, हुस्न की दौलत तुम हो—जी चाहता है, तुम्हारी सूरत अपनी आँखों में भर लें कि तुम उड़कर कहीं जा न सको, तुम्हारे जिस्म को अपने कलेजे से बाँध लें कि तुम तड़फड़ाते रहो और भाग न सको, तुम्हारे मासूम होठों को चूम लें कि तहेदिल तक उनकी मिठास भर उठे।

मेरे दिलवर! एक बार तो दिल के अरमान पूरे कर दो। कह दो—'हम हैं तुम्हारे, तुम हो हमारे'—बस! हमें जन्नत हासिल हो जायगी, हमें कारूँ का खजाना मिल जायगा।

देखो, जवाब देना— समझे! एक-एक बात का जवाब देना। रात के अय्याम में खत लिखना, ताकि कोई देख न ले। जानते हो न, दुनियावालों के कान तेज और जबान तर्रार होती है।

हाँ! जवाब जरूर देना, नहीं तो हमारा दिल टूट जायगा। कल सुबह ही हम तुम्हारे जवाब का इन्तजार करेंगे।

एक बात और—तुम्हारी फोटो हम पा गये हैं और वही आजकल हमारी जलन का सहारा है। उसे रात के सन्नाटे में कलेजे से लगाये रहते हैं हम। मगर बेजान तस्वीर में तुम्हारी वह दिलफरेब अदा कहाँ से आये? हम तुम्हारी तस्वीर हाथ में लेते हैं, तो तुम्हारी याद सताने लगती है। हम उससे कुछ बातें करना चाहते हैं, तो वह खामोश रह जाती है। उसे कलेजे से लगा लेते हैं तो वह तुम्हारी तरह बल खाकर दूर नहीं भागती। उसे चूम लेते हैं तो वह शिकवा भी नहीं करती—आखिर तस्वीर तो तस्वीर ही! वह क्या आराम देगी मुझे, जो तड़पा न सकेगी?

सच कहते हैं हम! दिल चाहता है हमेशा तुम्हें सीने से लगाये रहें आँखें चाहती हैं कि हमेशा तुम्हें देखती रहें।

बरबाद हो गये हम भोले राजा!

तेरी गली में आकर हम लुट गये सितमगर,
हँस-हँस के ले लिया दिल, सदके तेरी हँसी के।

और बकौल एक हिन्दी शायर के—

सदा तुम्हारी सूरत दिल में निसि दिन बसति बिसेखे,
विकल रहैं नैना दोउ पापी मानत नहिं बिनु देखे।

देखो! हम आखिरी बार कहते हैं—जवाब देना बहुत जल्द!

बेदर्द, बेमुरौव्वत, बेवफा!

मैं हूँ तुम्हारी ही—
—शमा।

पत्र पढ़कर मैं नीचे रख देता हूँ। शमा का दर्द मैं जानता हूँ, परन्तु शमा तो मेरे दर्द से अनभिज्ञ है। वह क्या जाने कि अपने सीने में कितना तूफान छिपाये मैं खामोश बैठा हूँ।

रात भर तक मैं ठीक से सो नहीं सका हूँ और सवेरे ही शमा आ पहुँचती है कमरे में। और दिन तो चाय के वक्त ही उसे देखता था, परन्तु आज इस समय शायद वह अपने पत्र का उत्तर लेने आई है। चेहरा उसका गम्भीर है और उस गम्भीरता में अन्तर का वैकल्य मैं स्पष्ट देख रहा हूँ।

"शमा! इधर आओ...." कहता हूँ मैं और वह चुपचाप आकर मेरी बगल में बैठ जाती है। मैं उसका हाथ पकड़ लेता हूँ तो उसका सर मेरे कन्धे पर आ टिकता है!

बोला हूँ मैं—"प्यारी शमा! तुम्हें कितनी गलतफहमी हो गई है, यह मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ? तुम अपने को भूल बैठी हो। होश करो। मैं शादीशुदा हूँ। मेरी बीवी है और पाँच बच्चे। घर से रूठकर तुम्हारे यहाँ आ पड़ा हूँ....और तुम हो कि मेरी परवरिश करने के बदले मेरा दिल चाहती हो। मुझे तुम्हारे जज-बात से हमदर्दी है, मगर मैं बेबस हूँ शमा! तुम मेरा प्यार पा सकती हो, मेरी बहन बनकर....इसके अलावा मैं तुमको और कुछ नहीं दे सकता...."

मैं रुक गया हूँ, तो शमा की आँखें बरसाती नदी बन गई

हैं। मैं धीरे-धीरे उसका सर सहलाने लगता हूँ। उसे सान्त्वना मिलती है। धीरे से वह कहने लगती है—"मर्द बड़े बेवफा होते हैं। किसी का कलेजा लोहे का हो सकता है, मगर आँच पाकर वह पिघले नहीं, यह गैरमुमकिन है....तुम्हारी बीवी है, बच्चे हैं, फिर भी तुम यहाँ बेफिक्र होकर पड़े हो—कितने ताज्जुब की बात है?....अब तुम सम्हल गये हो तुम्हें किसी बात की कमी नहीं रही। तुम घर जाकर उन बेचारों को यहाँ लाओ। रूठने की अदा औरतों को ही अच्छी लगती है। मर्द जब रूठते हैं तो घर बरबाद हो जाता है...।"

शमा की बातें सुनकर मैं चिन्ता में पड़ गया हूँ। शमा ठीक कहती है। मैं यहाँ आनन्द कर रहा हूं और वहाँ देवीजी बच्चों के साथ जाने कैसे रह रही होंगी। उन्हें यहाँ लाना ही चाहिये, लाना ही होगा।

परन्तु क्या मैं देवीजी के आगे अपनी हार मान लूँ? कितनी शान से मैं घर से बाहर निकला था और अब कौन सा मुँह लेकर देवीजी के सामने सर झुकाने जाऊँ?

"देखो...." शमा जाते हुए बोली है—"आज शाम को ही तुम्हें अपने घर जाना पड़ेगा और उन्हें लेकर फौरन वापस चले आना होगा..."

वह चली गई है! मैंने निश्चय कर लिया है कि देवीजी को यहाँ बुलाऊँगा जरूर। रामू काका को लिख दूँगा कि वे सबको यहाँ पहुँचा जायँ।

रामू काका को मैंने पत्र लिख दिया है! गाँव में रामू काका ही मेरे सबसे बड़े हितचिन्तक हैं, इस बात का अब तक जिक्र नहीं किया इसका दुःख है मुझे।

चार दिन बाद मुझे रामू काका का यह पत्र मिला है—

तुम्हें दुःख होगा कि मैं बहू और बच्चों को साथ लाने के बदले

यह पत्र भेज रहा हूं। क्या करूँ, ईश्वर की मर्जी! साथ में बहू का पत्र है, उसे पढ़ लेना। सब जान जाओगे। मैं तीर्थ करने चला गया था, जब लौटा, तो स्थिति हमारे वश की नहीं रह गई थी। बहू से मिलना चाहो तो आत्म-हत्या करके उससे जा मिलो। तुफ है तुम्हारी निष्ठुरता पर।

यह छोटा-सा पत्र मेरे काँपते हाथों से छूट कर जमीन पर गिर पड़ता है। दूसरा पत्र उठाता हूँ। देवीजी की लिखावट है। मेरे सीने के भीतर आँधियाँ चल रही हैं। मस्तिष्क अगम पीड़ा से भर उठा है। फिर भी पढ़ने लगता हूँ—

रूठनेवाले।

तुम चले गये मुझे अकेली छोड़कर। मैं नारी थी, असहाय थी, अतः तुम समझते थे कि तुम मुझे झुका दोगे। आज मैं चल रही हूँ, हृदय में यह आकांक्षा लेकर कि दूसरे जन्म में तुम नारी बनो और मैं पुरुष, और तब तुम देखो कि पति के रूठने पर नारी किस तरह से अपने प्राण देती है तड़प-तड़प कर।

मुझे खुशी है कि मरते समय भी मेरा सर ऊँचा है। मैं झुकी नहीं। अपना सब कुछ लुटाकर भी मैंने तुम्हें कभी नहीं पुकारा। इस समय रामू काका सामने बैठे हैं और यह पत्र मैं उन्हें ही सौंप जाती हूँ कि दस-बीस साल में जब कभी तुम मेरी खोज में यहाँ आओ, तो इसे पढ़कर जलो-तड़पो। तुम्हारा पता नहीं मालूम, नहीं तो इसे तुम्हारे ही पास भेजती, ताकि मेरी लाश पर दो-चार बूँदे बहाने के लिये पहुँच सकते।

हरीप्रसाद के विषय में तुम्हारी धारणा ठीक थी। वह साँप था और उसने मुझे एक रात को डस ही लिया—जबरदस्ती। मैं नारी थी, पति द्वारा ठुकराई हुई असहाय—क्या करती? सब कुछ लुटा-कर भी मौन रही। वश चलता तो हरीप्रसाद को कच्चा ही चबा जाती। वह नहीं चला, तो केवल आँसू बहाकर बैठ रही। मुझे

दुःख हुआ कि मैंने पहले ही तुम्हारी बातें क्यों नहीं मानी? और क्रोध हुआ कि तुम क्यों मुझे साँप के साथ अकेली छोड़ गये। अगर तुम मेरे पास होते, तो उसकी हिम्मत मुझे डसने की कभी न पड़ती। नारी के लिये पुरुष ढाल है, छाया है, सहारा है।

तुम्हारे जाने के बाद हरीप्रसाद का ही सहारा रह गया था। और जब वह भी साँप बन बैठा, तो मैं निराश्रय हो गई। बच्चे भूख से तड़पने लगे। अब मैं सभी से डरने लगी थी, पता नहीं कौन किस समय साँप का रूप धारण कर ले और मुझे काट खाय। अतः मैं गाँव में किसी के आगे हाथ फैलाने नहीं गई। भूख, चिन्ता एवं तुम्हारे वियोग ने मुझे अधमरी कर दिया था। कोई शारीरिक परिश्रम भी नहीं कर सकती थी।

चार दिन के बाद ही बड़ा लड़का त्रिलोक भाग गया, पता नहीं कहाँ? मैं रोई नहीं—जब पति ही भाग गया तो बेटे कब तब साथ देंगे?

घास की रोटी बनाकर बच्चों को खिलाना चाहा, परन्तु तुम्हारे बच्चे तुमसे कम हठी नहीं निकले। वे भूख से रोते-चिल्लाते रहे, परन्तु घास की रोटी मुँह में नहीं रखा। सात दिन के अन्दर तीन ने भूख की आग में अपनी जानें झोंक दीं। लाशों को ले जाकर मैंने रात के अँधेरे में टीले के पास फेंक दिया। भूखे बच्चों की लाश गीदड़ों की दावत बन गई।

छोटे बच्चे का मरना मुझसे न देखा गया। माता का हृदय ही तो—कब तक धीरज रखता? मैंने तुम्हारी छूरी से अपनी जाँघ का थोड़ा सा माँस निकाला और उसे भूनकर बच्चे के मुख में रख दिया। शैतान बच्चा! भला माँ का दूध पीनेवाला बेटा उसका माँस कैसे खाता?

उसने भी आँखें मूँद लीं। उस दिन मैं खूब रोई। दुनिया में अकेली रह गई थी। जीने की चाह मर गई थी। केवल मृत्यु की

प्रतीक्षा थी। वह भी धीरे धीरे निकट आ गई। सत्रह दिन से एक दाना भी पेट में नहीं गया था। जाँघ का घाव, जहाँ से बच्चे को खिलाने के लिये माँस निकाला था, सड़ गया था और बदबू कर रहा था। पीड़ा से चीखती-चिल्लाती चारपाई पर पड़ी रहती थी। करवट भी नहीं ले सकती थी।

आज मृत्यु की अन्तिम घड़ी आ पहुँची है। जीते-जीते थक भी गई हूँ—अब मरकर विश्राम लेना चाहती हूँ। रामू काका आज ही तीर्थ से लौटे हैं। बड़े ही कष्ट से यह पत्र लिखकर इन्हें दे रही हूँ। चलते-चलते तुम्हारे लिये कुछ लिख जाना आवश्यक था इतने दिनों तक का साथ था, सो उसे कैसे भूल सकूँ? अब जानें कब भेंट हो तुमसे—शायद कभी न हो। नारी की यह कितनी विवशता है। तुम्हारा पता जानती होती, तो मरकर ये प्राण पहले तुम्हारे ही चरण चूमने पहुँचते। जब कभी यह पत्र तुम्हें मिले, तो इतने दिनों के साथ के नाते, दो आँसू बहा लेना। और क्या लिखूँ?

पत्र समाप्त!

मुझे पकड़ो!...कोई मुझे पकड़ो....मैं पागल होता जा रहा हूँ.... यह क्या हो गया?....मेरी दुनिया उजड़ गई....मैं बरबाद हो गया... सुनो! ऊँची अट्टालिकाओं में सोनेवाले नरपशुओं सुनो! आज मैं बरबाद हो गया हूँ। पत्नी ने भूखे पेट अपनी जान दे दी। बच्चे मर गये....और मैं....मैं पागल हुआ जा रहा हूँ...मुझे पकड़ो...पकड़ो...लो...यह लो....

मैंने अपने कपड़े चीर दिये हैं। सर के बाल नोचने लगा हूँ।

"क्या हुआ?...." शमा की आवाज है।

"यह क्या कर रहे हो तुम?"—अजीज भाई हैं।

और यह मैं हूँ—"मुझे मत छुओ। मैं पागल हूँ....मैं बरबाद हो गया हूँ....मेरी दुनिया उजड़ गई है...."

सबको धक्का देकर मैं मकान से बाहर आ गया हूँ। तन-बदन की सुध नहीं है। भागा जा रहा हूँ—दौड़ा जा रहा हूँ।

एकाएक 'पपिहरा' की हस्तलिपि का ध्यान आता है। मैं पुनः लौटता हूँ। मकान के अन्दर घुसकर हस्तलिपि उठा लेता हूँ। अजीज भाई मुझे पकड़ना चाहते हैं, परन्तु मैं आँधी के समान निकल जाता हूँ।

फिर दौड़ने लगता हूँ बेतहाशा। पैरों में तूफान मचल उठा है। दौड़ते-धूपते, हाँफते-काँपते, गिरते-पड़ते पहुँच गया हूँ अपने गाँव। इमली के पेड़ के नीचे खड़ा होकर देख रहा हूँ ठीक सामने—

बरसाती बूँदों की चोट खाकर टूटा-फूटा घर मिट्टी का ढूह बन गया है। रामू काका मिलते हैं। आँखों में आँसू और गले में हिचकियाँ भर कर मुझे कलेजे से लगा लेते हैं।

मैं पूछता हूँ—"इस घर को उजड़े कितने दिन हुये काका ?"

"दस महीने"—

जवाब सुनता हूँ मैं, फिर काका के कलेजे से अपना शरीर छुड़ा कर भाग निकलता हूँ। पीछे मुड़ कर देखता भी नहीं, यद्यपि काका गला फाड़-फाड़ कर मेरा नाम जप रहे हैं।

मैं सचमुच पागल बन गया हूँ। मस्तिष्क ठिकाने नहीं है, तो क्या करूँ पागल भी न बनूँ ? कौन रोक सकता है मुझे..... कौन रोक सकता है ?

शहर में पहुँच गया हूँ। सामने से मास्टरों की एक टोली स्कूल से पढ़ा कर लौट रही है। मैं उनके पास जा खड़ा होता हूँ। हाथ फैलाकर उन्हें रोक लेता हूँ। चिल्लाकर कहने लगता हूँ—"सुनो !.... स्कूलों में जाकर विद्यार्थियों को विद्या-दान देनेवालो ! मेरी बात सुनो !....तुम शिक्षक हो। तुम्हारा कार्य महान है। देश के होनहार बालक तुम्हारे मस्तिष्क से प्रेरणा पाते हैं....आज तुम नीचे गिर गये हो। वृहस्पति और शुक्राचार्य तुम्हारे नाम पर थूक रहे हैं।

तुम पक्षपाती बन गये हो, फैशनपरस्त हो, तुममें अकर्मण्यता आ गई है, स्कूलों में जाकर तुम कुर्सियाँ तोड़ते हो, घर पर लड़कों को बुलाकर तुम 'गुल' खिलाते हो....मैं कहता हूँ कि तुम्हें देश को रसातल ले जाने का कोई अधिकार नहीं। पहले त्यागी बनो, फिर दूसरों को त्याग का पाठ पढ़ाओ....और नहीं तो....''

सर पर जोरों की चोट लगती है। इसके बाद घम्म-चट्ट! पीठ पर घूँसे धमाधम और गाल पर तमाचे चटाचट बरसने लगते हैं। घम्म-चट्ट की बरसात करवाले ये स्कूली लड़के हैं, जो अपने गुरुओं का अपमान इस तरह से धो रहे हैं। कितने गुरुभक्त हैं ये विद्यार्थी कि कमाल! आजकल किसी की तरफदारी या किसी की निन्दा करना भी पाप हो गया है।

मेरी जबान रुक जाती है और पैर भागने लगते हैं। ये पैर भी कितने वफादार हैं कि जरा भी आफत आई और ये तूफानमेल बने।

स्टेशन पर आ पहुँचता हूँ, टिकटचेकरों को रोक लेता हूँ—जनता के पसों पर रेंगनेवाले कीड़ों, सुनो! लोगों से एक के चार वसूल करते हो तुम, फिर भी तुम्हारे पेट नहीं भरते। पाप की कमाई से पेट कभी भर नहीं सकता। सभ्यता सीखो, पसीना बहा कर पैसे पैदा करो, इन्सान को कुत्ता मत समझो—तभी सुख पाओगे....''

थाने पर आकर चिल्लाता हूँ—''लाल-पगड़ी वाले नवाबों सुनो!....जनता के नौकर हो तुम, फिर भी तुम्हारी जबान गाली के कीचड़ से सनी रहती है। तुम्हारा हंटर गरीबों की जान लेता है। तुम्हारी कलम बेगुनाहों का गला काटती है। शर्म करो! कुत्ते बन कर पहरा देना सीखो, शेरों की तरह दहाड़ना छोड़ दो। घूस के पैसों से तुम्हारी जेबें फट जायँगी। तुम शासन के आधार

हो, परन्तु दुनिया का कोई भी बुरा कर्म तुमसे अछूता नहीं बचा है..."

थानेदार के लात-घूँसे खाकर रात भर हवालात में 'अचार' बनाया जाता हूँ और सबेरे पागल समझ कर छोड़ दिया गया हूँ।

वेश्याओं के कोठों के नीचे—

"सुनो ऐ रंगीन तितलियों! समाज के सीने पर गंदी नाली बन कर बह रही हो तुम। एक नारी वह थी, जिसकी इज्जत जबर्दस्ती लूटी गई और वह जिन्दा न रह सकी...एक तुम हो, जो खुशी-खुशी अपने तन का सौदा करती हो। वह भूख से तड़प कर मरी थी और तुम खाते-खाते भी जीवित हो। उसने अपने बच्चे को अपना माँस खिलाना चाहा था और तुम स्वयं अपने बच्चों का माँस खा जाती हो, इन्हें गर्भ में आते ही गिरा देती हो.... यह हुस्न चन्दरोजा है। इस पर गरूर मत करो...."

शराबखाने के सामने—

"पियो! जी भर कर पीते चलो। झूमो-हँसो। तुम्हारी पत्नियाँ भूख से तड़पें और तुम जहर खरीद कर अपना पेट भरो। शराब पियो, जुआ खेलो और युधिष्ठर की तरह अपनी 'द्रोपदी' को भी दाँव पर लगा दो। यही मर्दानियत है। तुम्हारा देश धन्य है, जहाँ ऐसे सपूतों को डूब मरने के लिये एक चिल्लू पानी भी नहीं, तो शराब के कुल्हड़ में ही डूब मरो शैतानों...."

सिनेमाघर के पास—

"सिनेमा-प्रेमियों! देश के करोड़ों भूखे-नंगों की याद छोड़ कर तुम सिनेमा देखने आते हो। देखना भी चाहिये। आज के जमाने में सिनेमा ही तो मनोरंजन का साधन है। कितना अच्छा अभिनय होता है पात्रों का....स्वयं भी अभिनय करने की इच्छा हो तो सिनेमाघर के पीछेवाली छोटी-सी जगह में चले जाओ

और मैनेजर को दस रुपये पकड़ा कर मनपसन्द युवती के साथ अभिनय करो....

मिल के फाटक पर—

"मजदूरों ! पसीना बहाते हो तुम और मौज करते हैं ये सेठ। भारी भोंपेवाली इस मिल के मालिक से तुम अपना अधिकार माँगो...मगर अधिकार पाने के लिये हड़तालें मत करो। हड़तालों से तुम्हारा और तुम्हारे उत्पादन पर जीनेवाले लाखों व्यक्तियों का अपकार होगा। सेठों का क्या बिगड़ेगा ?...आज देश को अधिक उत्पादन की आवश्यकता है, हड़तालों की नहीं। सेठों से समझौता करो। पहले कलाई पकड़ो, फिर बाँह और तब गर्दन पकड़ कर टीप दो इन धनियों को...."

यही जिन्दगी चल रही है मेरी।

दिन भर में इस बकबक के कारण दो-चार बार लात भी खा लेता हूँ। आज कल के लोग बात नहीं सह सकते, तो लात चलाने लगते हैं।

बम्बई ! धन, सौन्दर्य एवं वैभव की क्रीड़ास्थली ! लगता है जैसे जमीन का जन्नत हो बम्बई। कैलाश भी आजकल बम्बई में ही है। वह कैलाश पिकचर्स लिमिटेड का मैनेजिंग डायरेक्टर है। यह फिल्म कम्पनी अभी नई है, फिर भी इसने अपनी पहली ही फिल्म से तहलका मचा दिया है। फिल्मी दुनिया के पुराने सेठ कैलाश की प्रतिभा के कायल हो गये हैं। आज कैलास का नाम सभी फिल्मवाले इज्जत के साथ लेते हैं।

कैलाश प्रसन्न है, व्यस्त है। उसे दम मारने की भी फुर्सत नहीं। सोने-खाने का भी समय उसे नहीं मिल पाता। उसे गर्व है

कि वह देश को ऐसी फिल्में भेंट कर रहा है, जिससे राष्ट्र का उत्थान होगा।

कैलाश अपने आफिस में उपस्थित है। अभी-अभी ही वह अपने बँगले से आकर कुर्सी पर बैठा है। तभी दरबान ने आकर सलाम ठोंका।

"हजूर !...दो भिखमंगे आये हैं....टलते ही नहीं..."

"उन्हें ले जाकर यह दे दो"—कैलाश ने एक रुपया निकाल-कर दरबान के आगे रख दिया !

"सरकार वे दोनों आप से मिलना चाहते हैं..."

"मुझसे मिलना चाहते हैं ?"—कैलाश को आश्चर्य हुआ—"क्यों ? कुछ काम बताया उन्होंने ?"

"नहीं हजूर ! सिर्फ नाम बताया है....एक का नाम खलील है और दूसरी एक नौजवान लड़की है—" बोला दरबान।

खलील का नाम सुनकर कैलाश को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। दरबान को उसने आज्ञा दी—"उन्हें जल्द यहाँ भेजो..."

दरबान चला गया। थोड़ी ही देर बाद खलील और पपिहरा ने वहाँ प्रवेश किया। दोनों की दशा दयनीय थी। कैलाश को देखकर दोनों बड़े ही प्रसन्न हुए।

"यहाँ कैसे आ गया खलील ?"—कैलाश ने पूछा—"तुम दोनों तो गाँव से भाग गये थे न ?"

"तुम्हें खोज ही लेंगे कहीं न कहीं छोटे सरकार !"—खलील हँस कर बोला—"और हम तो गाँव से दीपक भाई की खोज में चले आये थे....उनके घर गये तो मालूम हुआ कि वे बम्बई में डाक्टरी पढ़ रहे हैं। उनके नौकर इतने बदतमीज कि पता भी नहीं बताया और गर्दन में धक्के मारने लगे। लाचार होकर हमने सोचा कि बम्बई चलकर ही उनका पता लगावें। मगर खुदा के फ़ज़ल से बम्बई तो इतनी छोटी है कि खाक पता लगे समुन्दर में

एक छोटी-सी मोती का....सो आज कई महीनों से यहाँ पड़े हैं। भीख का सहारा है और इरादा है कि दीपक को खोजे बग़ैर बम्बई छोड़ेंगे भी नहीं। यह भी क्या समझेगी कि कोई खाक छानने आया था यहाँ....तुम्हें तो दीपक की खबर होगी छोटे भैया....''

''पूछो मत''—कैलाश ने कहा—''यह फिल्म कम्पनी खोली है मैंने और यहाँ आकर इतना व्यस्त हो गया हूँ कि घर पर एक पत्र भी नहीं लिख सका।....खैर! अब तुम लोग मेरे साथ ही रहो। कभी न कभी दीपक का पता लग ही जायगा! हाँ, यह तो बताओ, तुम लोग यहाँ तक आये कैसे?''

''अल्लाह की मिहरबानी से मेरी नजरेइनायत तुम्हारी मोटर पर पड़ गई छोटे भैया! और दौड़ते-दौड़ते हम तुम्हारे पीछे यहाँ तक आ पहुँचे। खुदा के फ़ज़ल से तुम्हारा दरबान भी एकदम डाकू है छोटे सरकार! पहले तो आँखें दिखाईं, लट्ठ निकाला—मगर जब मैंने कहा कि हम उनके गाँव के आदमी हैं, तो बोला कि पाँच रुपये दो तो सेठ साहब को खबर करेंगे। भीख माँग कर जो रुपये इकट्ठे किये थे, सब कम्बख्त ने ले लिया। जब तुम्हारा दरबान इतना घूस खाता है, तो तुम भी खाना तो बहुत कम ही खाते होगे कैलास भैया! घूस से ही तुम्हारा पेट भर जाता होगा।....''

कैलाश ने घंटी बजाई। दरबान हाज़िर हुआ। बोला कैलाश—''तुम ने ख़लील से रुपये लिये हैं?''

''अजी, रुपये तो इसकी जेब में ही होंगे''—कहकर ख़लील आगे बढ़ा और दरबान की जेब में जो भी था, सब निकाल लिया। दिया था तो केवल पाँच और निकाला पन्द्रह। बोला—''जाने दो इसे छोटे सरकार! बड़े आदमी की नौकरी करके यह भी बड़ा आदमी बनना चाहता है....''

देखो!....'' कैलाश ने दरबान को आज्ञा दी—''इन दोनों

को ले जाकर बँगले पर आराम से रखो....इनके खाने-पीने-पहनने का प्रबन्ध कर देना ..."

"छोटे भैया !"—ख़लील ने कहा—"खुदा के फज़ल से मुझे सिर्फ खाने और पहनने की ही आदत है। पीने की लत जरा भी नहीं...."

"यह आफ़िस है ख़लील ! ज्यादा बकबक मत करो"—कैलाश बिगड़ा।

"आफत है तो मैं चुप हो जाता हूँ सरकार !....चलो भाई दरबान, ले चलो हमें। खुदा के फ़ज़ल से कैलाश भैया हमेशा आफ़त में पड़े रहते हैं..."

ख़लील और पपिहरा कैलाश के बँगले पर रहने लगे। ख़लील मस्त था और पपिहरा खुश। ख़लील खाता-पीता और सोता था और पपिहरा सोचती थी कि वह आराम से बम्बई में कैलाश के साथ पड़ी है तो कभी-न-कभी दीपक का पता लगेगा ही।

पपिहरा का मुर्झाया चेहरा खिलने लगा। वह गाने गाती, रेडियो सुनती और तितली-सी उड़ती फिरती। शहर का आकर्षण उसके लिये आनन्ददायक था।

कैलाश जब कभी पपिहरा का गाना सुनता तो वह सोच में पड़ जाता। सोचने लगता कि यदि पपिहरा भी अभिनेत्री बन जाती, तो उसके गले की आवाज़ संगीत-प्रेमियों के हृदय में तूफान उठा देती। मगर पपिहरा अशिक्षित थी और उसकी अशिक्षा ही उसे अभिनेत्री बनने में बाधक थी।

कैलाश हार माननेवाला आदमी न था। उसने पपिहरा को अभिनेत्री बनाने का निश्चय कर लिया और उसे पढ़ाने के लिए एक अध्यापिका रख दी।

पहले तो पपिहरा पढ़ने पर राज़ी नहीं हुई, मगर जब कैलाश

ने उसे बहुत समझाया और कहा कि पढ़-लिखकर वह दीपक के योग्य बन जायगी, तो वह तैयार हो गई।

पढ़ाई प्रारम्भ हुई। पपिहरा का मस्तिष्क तीव्र था। चार-छः महीने के कठिन परिश्रम के बाद वह हिन्दी अच्छी तरह सीख गई।

कैलाश ने अपनी कम्पनी के संगीतज्ञ को उसे संगीत की शिक्षा देने के लिये नियुक्त कर दिया। गले का स्वर कला का सम्पर्क पाकर मादक होने लगा। नृत्य भी वह सीखती थी। उसके शरीर की चञ्चलता ने उसकी नृत्य-कला में नई जान डाल दी।

और साल भर बाद ही जब वह 'हायरे-जमाना' नामक फ़िल्म में नायिका के रूप में अवतरित हुई, तो लोग वाह-वाह कर उठे। उसके अभिनय ने लोगों को मुग्ध कर लिया। उसकी मुस्कुराहट देखकर लोग हँसे, उसके आँसू देख रोये, उसके गाने सुन गुन-गुनाये, और उसका नृत्य देख कलेजा पकड़ बैठे।

पपिहरा तूफान बनकर सिनेमा-संसार में उतरी। कैलाश के पटु-प्रचार ने उसके नाम में बिजली भर दी। देश के बच्चे-बच्चे तक उसके गाने गाने लगे।

रतन फिल्म्स के मालिक सेठ रतनलाल ने भी वह फिल्म देखी। पपिहरा की हर अदा ने उनका मन मोह लिया। सेठ रतनलाल के चित्र इधर दो-तीन वर्षों से लगातार नीचे गिरते जा रहे थे। उनको इधर काफी हानि भी उठानी पड़ी थी।

वे सोचने लगे कि अगर यह अभिनेत्री उनके एक चित्र में उतर जाय तो उनका सारा घाटा पूरा हो जाय और उनकी कम्पनी की धाक भी बँध जाय।

दूसरे ही दिन!

सेठ रतनलाल की कार कैलाश पिक्चर्स लिमिटेड के स्टूडियो के सामने खड़ी थी।

कैलाश ने सेठ रतनलाल को देखकर अभिवादन किया और उन्हें कुर्सी पर बैठने का इशारा किया।

बोला—"बहुत दिनों के बाद आपका दर्शन हुआ सेठजी!"

"क्या करूँ साहब! आने का इरादा तो नहीं था, परन्तु आपकी मिस पपिहरा का अभिनय मुझे यहाँ तक खींच लाया—अभिनेत्री तो आपने ऐसी पेश की, कि लोग अवाक् हो गये हैं...."

"ठीक है"—बोला कैलाश—"वह मेरे गाँव की एक अपढ़ छोकरी थी। यहाँ आ गई तो मैंने उसे पढ़ा-लिखा कर ठीक कर लिया। लड़कपन से ही उसके गले में जादू था सेठजी!...."

"और आपकी कृपा से वह जादू अब लोगों के सर पर चढ़-कर बोल रहा है"—सेठ रतनलाल ने कहा-"आप भी किसी जादूगर से कम नहीं कैलाशजी! कूड़े के ढेर में से हीरे को खोज निकालना आसान काम नहीं..."

"चाय पियेंगे?"

"धन्यवाद!....मैं एक आवश्यक कार्य से आपके पास उपस्थित हुआ हूँ। आप तो जानते ही हैं कि हमारे चित्र इधर फेल करते जा रहे हैं। अगर आप एक चित्र के लिये मेरा कन्ट्रैक्ट मिस पपिहरा से करा दें, तो बड़ी कृपा हो। आपने तो अपना स्थान मार्केट में बना ही लिया है, अब कुछ मेरी भी सहायता कीजिये...."

"मुझे कोई एतराज नहीं सेठ साहब!" कैलाश बोला—"मगर पपिहरा की भी स्वीकृति इस विषय में आवश्यक है...."

"जरूर! जरूर!....आप उनसे पूछ लीजिये। आप जो भी कहेंगे, मैं देने को तैयार हूँ। अपनी चेकबुक मैं साथ ही लेता आया हूँ...."

"तो मैं उसे अभी बुलाकर पूछता हूँ...." कहकर कैलाश ने घंटी बजाई। दरबान हाजिर हुआ।

हुक्म मिला—"पपिहरा को भेजो !..."

और "मुझे क्यों बुलाया छोटे भैया ?"—पपिहरा आकर कोकिल स्वर में कूक उठी।

"इधर आ, बैठ !"—कैलाश ने कहा। पपिहरा बैठ गई।

सेठ रतनलाल उस अनिंद्य सुन्दरी का सौन्दर्य एकटक देख रहे थे। शायद जमीन पर चन्द्रमा को उतरते उन्होंने कभी देखा नहीं था। सेठजी की अवस्था पचास के ऊपर थी, परन्तु जिस ढंग से वे पपिहरा की ओर देख रहे थे, उससे लगता था कि वे यौवन के दिनों की कला अभी तक भूले नहीं हैं।

"इन्हें तू जानती है पपिहरा ?"—कैलाश ने पूछा।

"नहीं तो छोटे भैया ! इनको कभी नहीं देखा मैंने...." पपिहरा ने उड़ती नजर सेठ साहब पर डालते हुये कहा।

"ये हैं रतन फिल्म्स के मालिक सेठ रतनलाल...." बोला कैलाश।

सुनकर पपिहरा सोचने लगी कि यह नाम उसने कभी सुना अवश्य है, परन्तु कब, यह उसे याद नहीं। अतः उसने केवल शिष्टाचार के नाते दोनों हाथ जोड़ दिये !

सेठ साहब ने भी नमस्ते किया, कुछ मुस्कुराकर, कुछ दाहिनी आँख दबाकर और कुछ बाँया कंधा हिलाकर।

"तू इनके एक फिल्म में काम करेगी ?..."

"इसे तुम जानो छोटे भैया !"—पपिहरा बोली—"जो कहो, मैं करने को तैयार हूँ..."

"लीजिये कैलाश जी !"—सेठ रतनलाल बोले—"मिस पपिहरा की स्वीकृति मिल गई। अब केवल आपके कहने की देर है...."

"मैं भी स्वीकृति देता हूँ...."

"तो कितना ?...." अपनी चेकबुक निकाल कर सेठजी ने पूछा।

"मेरे विचार से तीस हजार कुछ अधिक न होगा...." कैलाश ने कहा।

"मैं यहाँ मोल-भाव करने नहीं आया हूँ कैलाश जी ! यह लीजिये...." सेठ रतनलाल ने तीस हजार का चेक काट कर कैलाश के आगे रख दिया।

"तो आपका काम कब से शुरू होगा ?"—पूछा कैलाश ने।

"स्टोरी तो एकदम तैयार है—जल्द से जल्द प्रारम्भ कर दूँगा। कल मिस पपिहरा को ले जाकर अपना स्टूडियो दिखाऊँगा और अपने स्टाफ से परिचित कराऊँगा। फिर किसी अच्छे दिन चित्र का मुहूर्त भी कर दूँगा....आपको जरा भी कष्ट नहीं होगा मिस पपिहरा ! शूटिंग के दिन मेरी कार आपको ले जाया करेगी और यहाँ तक पहुँचा देगी...."

"धन्यवाद सेठ साहब !..." पपिहरा बोली।

"कैलाश जी ! आपका कृतज्ञ हूँ जो आपने मुझ पर इतनी दया की...." कहकर सेठजी उठ खड़े हुए—"तो मिस पपिहरा ! कल शाम को चार बजे आप तैयार रहें। मैं स्वयं आपको लेने आऊँगा..."

सेठ जी चले गये।

तो पपिहरा बोली—"मैं तुम्हारे ही फिल्मों में काम करती तो अच्छा था छोटे भैया।"

"बेवकूफ कहीं की"—कैलाश ने मधुर झिड़की दी—"जितने ही जगह तू काम करेगी, उतनी ही तेरी ख्याति बढ़ेगी। आजकल एक फिल्म के तीस हजार किसको मिल रहे हैं। पुरानी अभिनेत्रियाँ तेरे आगे झख मारें।"

उसी दिन शाम को—

कैलाश, पपिहरा और खलील बँगले में बैठे थे। तीनों चाय पी रहे थे। बीच-बीच में बातें भी होती जा रही थी।

खलील बोला—"छोटे भैया! अब मैं घर जाना चाहता हूँ।"

"और यहाँ क्या आस्मान के नीचे पड़ा है, जो घर की याद सता रही है?"—कैलाश ने कहा।

"खुदा कसम छोटे भैया! आस्मान के नीचे पड़ा होता तो गनीमत थी। इस कैदखाने में मेरी तबियत जरा भी नहीं लगती.... तुमने इस टिटिहिरी को पढ़ा-लिखाकर आस्मान पर पहुँचा दिया कि यह शैतान अब जमीन की ओर देखती भो नहीं....मगर मैं तो जहाँ का तहाँ ही रह गया। न हँसना सीखा, न रोना—यह पिपिहरी तो बेवक्त रोने-हँसने लगती है। खुदा के फजल से यह ड्रामा भी अजीब चीज है छोटे भैया!...मगर मैं अब यहाँ रुक नहीं सकता। अब्बा की याद मुझे आ रही है। वे जाने किस हालत में होंगे..."

"इसे जाने दो छोटे भैया! क्या करेगा यह यहाँ रहकर?—" पपिहरा ने कहा।

"सुना तुमने इस बेइमान की बात?"—खलील बोला—"जानता होता कि तू इतनी बेवफा निकलेगी तो अल्लाह कसम रास्ते में ही तेरा गला चटनी कर देता...."

"चटनी बना तू अपना गला"—पपिहरा ने कहा—"गाँव जायगा तो दो-चार दिन में फिर यहाँ आने को तड़पेगा...."

"चल-चल! तू ही बम्बई में बिलबिला....मैं यहाँ भूँकने भी नहीं आऊँगा...कैलाश भैया! मुझे कुछ रुपये दे दो, ताकि अब्बा समझें कमा कर आ रहा हूँ। नहीं तो खुदा कि मिहरबानी से अब्बा जान अपनी जूतियों से मेरे सर का बाल बनानें लगेंगे..."

कैलाश ने सेफ से एक हजार के नोट निकाल कर खलील के

सामने रख दिया—"ले, जब तू जाना ही चाहता है, तो चला जा...."

"कितने रुपये हैं छोटे भैया ?"

"एक हजार ...."

"अरे बाप रे !"—आश्चर्य से बोला खलील—"खुदा कसम ! तुम तो अल्लाहताला से भी बढ़कर दान करते हो छोटे भैया ! इतने सालों तक अजान के वक्त मैं उठा-बैठा, मगर खुदा ने कभी एक मुर्गी भी मुफ्त में नहीं दी....और तुमने तो इकट्ठे ही एक हजार दे डाला....या खुदा ! तू भी फजूलखर्चों को ही दौलत देता है...."

दूसरे दिन प्रातःकाल खलील ने प्रस्थान कर दिया।

चलते समय पपिहरा ने कहा—"घर जाकर जरा रसूल भैया से मिल लेना खलील। और उनसे कह देना कि मैं अच्छी तरह हूँ...."

"और यह भी कह दूँगा कि थोड़ी-सा साबुन लेकर अपना चेहरा साफ किये रहें, पिपिहिरी कालिख लेकर जल्द आयेगी,.."

"और जरा उसकी भी खबर लेते रहना !"

"किसकी ?...."

"उसकी, जिसे रसूल भैया को सौंप आये थे....

"ओह ! समझ गया...."

खलील चला गया। पपिहरा कुछ दुखी अवश्य हुई, परन्तु यहाँ का वातावरण छोड़कर अब वह गाँव की याद करना नहीं चाहती थी।

शाम को सेठ रतनलाल स्वयं आकर पपिहरा को कार पर अपने स्टूडियो मे ले गये !

स्टूडियो के फाटक पर कार कुछ देर के लिये रुकी, तो पपिहरा की दृष्टि फाटक पर खड़े हुए लम्बे-काले भीमकाय दरबान

पर पड़ी। उसका सारा बदन सिहर उठा। उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं, फिर खोलकर दरबान की ओर देखा।

दरबान भी अपनी जलती आँखों से पपिहरा की ओर देख रहा था। डील-डौल उसका बड़ा ही भयानक था। मुँह पर घनी काली दाढ़ी थी, जिससे उसकी भयानकता बढ़ गई थी

कार स्टूडियो के अन्दर की पतली सड़क पर आगे बढ़ गई, फिर भी दरबान उस ओर देखता ही रहा। कार में बैठी हुई पपिहरा आँख मूँदे जाने क्या सोच रही थी।

"उतरिये!"—सेठजी ने कहा।

तो पपिहरा का ध्यान टूटा, आँखें खुलीं। धीरे से वह नीचे उतर पड़ी।

सेठजी ने उसे अपना स्टूडियो दिखलाया, अपने कर्मचारियों से परिचय कराया। अन्यमनस्क-सी पपिहरा सब कुछ देख रही थी। कभी-कभी मुख से दो-चार शब्द अनजाने में बोल देती थी।

जब उसे कार पर चढ़ाकर सेठजी पहुँचाने चले, तो रास्ते में पपिहरा ने कहा—"सेठजी!...."

"कहिये!...." सेठजी आज्ञाकारी सेवक की तरह बोले।

"आपका यह दरवान आपके पास कब से है?...."

"अभी तो नया ही आया है"—सेठजी ने कहा—"यही चार-छः महीने हुए...."

"क्या नाम है इसका?"—पपिहरा ने पूछा।

"हमें नाम से क्या मतलब?....हमलोग उसे दरबान ही कहकर पुकारते हैं...मगर आप उसके बिषय में इतना क्यों पूछ रही हैं?"

"कुछ नहीं"—बोली पपिहरा—"यों ही पूछ रही थी। सूरत इसकी बड़ी खौफनाक है..."

"तभी तो उसे रख लिया है"—सेठजी ने कहा—"आदमी

तगड़ा और इमानदार है। लड़ाई-झगड़े के वक्त कभी काम दे ही जायगा..."

इसके बाद सेठ रतनलाल की फिल्म का कार्य प्रारम्भ हो गया। पपिहरा के लिये सेठजी रोज अपनी कार भेज देते थे। पपिहरा जब भी आते-जाते फाटक पर पहुँचती, तो उसकी दृष्टि दरबान पर जा पड़ती और दरबान को अपनी ओर घूरता पाकर उसकी आँखें अपने-आप बन्द हो जातीं तथा हृदय तीव्र वेग से धड़कने लगता।

पपिहरा परेशान थी, पता नहीं क्यों, फिर भी उसे रतन स्टूडियो रोज आना ही पड़ता था। सेठ रतनलाल पपिहरा पर दिन प्रतिदिन अधिकाधिक सदय होते जा रहे थे। वे हमेशा पपिहरा के साथ छाया की भाँति लगे रहते थे। उसके तकलीफ-आराम का सदैव ध्यान रखते थे।

उस दिन सेठजी और पपिहरा आफिस में बैठे थे।

"मिस पपिहरा !...."

"कहिये..."

"आपके गले में तो जादू है ही, आपकी पर्सनालिटी में भी कम जादू नहीं....एक नजर जिसे देख लें, वह जीता हुआ भी मुर्दा बना रहे..." बोले सेठजी।

"शुक्रिया !...." पपिहरा ने केवल इतना कहा।

"देखिये !"—सेठजी ने जेब से एक डिब्बा निकालते हुए कहा—"आज सुबह ही यह हार आपके लिये खरीदा है....पसन्द तो है न ?"

"आपने इतनी तकलीफ क्यों की सेठजी ?"

"यह तो अपनी दिलबस्तगी है मिस पपिहरा ! वर्ना मैं हूँ किस काबिल ?..." कहकर सेठजी ने वह मूल्यवान हार अपने हाथों द्वारा पपिहरा के गले में डाल दिया !

पपिहरा का सौन्दर्य और खिल उठा। सेठजी मुग्ध दृष्टि से वह अनुपम छवि देखते ही रह गये।

"आप मेरी तरफ इस तरह क्या देख रहे हैं सेठजी ?"

"देख रहा हूँ कि गुलाब का फूल तो खिल गया, परन्तु किसी माली की नजर अब तक इस पर क्यों नहीं पड़ी ?....सच कहता हूँ मिस पपिहरा ! आपका सौन्दर्य इतना मादक है कि पीते-पीते मैं बेहोश-सा हो जाता हूँ और चाहता हूँ कि यों ही आपको हमेशा अपने सामने बिठाकर देखा करूँ ।....आपको मेरी बातें अप्रिय तो नहीं लग रही हैं मिस पपिहरा ?...."

"जी नहीं....कहते चलिये"—पपिहरा भी अभिनेत्रियों के हथकंडे सीख रही थी।

"क्या कहूँ मिस पपिहरा ! अपना दिल आपको कैसे दिखाऊँ ? दिल तो हजार-हजार हड्डियों के भीतर छिपा रहता है न !....इस अवस्था में आपने मेरे जीवन में आग लगाई है, अब इसे कौन बुझाये....सैगल का वह गाना तो आपको याद है न 'कौन बुझाये तपन मोरे दिल की'—बस बिल्कुल वही बात है मिस पपिहरा ! मैं परेशान हूँ। आपको जब देखता हूँ तो तबियत हरी हो जाती है। जब नहीं देखता, तो मुर्दा बना रहता हूँ।"

इतने में ही पपिहरा की दृष्टि दरवाजे पर पड़ी। वह बोली—"सेठजी ! बाहर कोई आदमी खड़ा हुआ हमारी बातें सुन रहा है..."

"कौन है ?"—सेठजी गरज कर बोले और दरवाजे की ओर बढ़े।

दरवाजे के बाहर दैत्याकार दरबान खड़ा था। सेठजी क्रोध से काँप उठे—"क्या है ?"

"हजूर ! मुझे दस रुपये चाहिये, सख्त जरूरत है...."

"मुझे पुकारा क्यों नहीं—यहाँ खड़ा होकर क्या कर रहा था ?

उल्लू का पट्ठा कहीं का"—सेठजी ने एक तमाचा जड़ दिया—"जा, अभी रुपये नहीं मिलेंगे। ऐसी गुस्ताखी फिर की तो बरखास्त कर दूँगा..."

तमाचा खाकर लम्बे-चौड़े दरबान के हाथ काँपे फिर वह सम्हल कर घूम पड़ा और चला गया।

सेठजी अन्दर आये, तो पपिहरा उठ खड़ी हुई। कुछ बेचैनी-सी लग रही थी। वह बोली—"चल रही हूँ सेठजी! कुछ जरूरी काम है...."

"बैठिये न!...."

"जी नहीं...."

और चिड़िया उस दिन सेठजी के जाल में फँसते-फँसते उड़ गई। सेठजी को बड़ा दुख हुआ।

मगर जब जाल तना है, तो चिड़िया कब तक भागती रहेगी?

सो, एक दिन चिड़िया अनायास ही आ फँसी। सेठजी रविवार की शाम को मदिरा से मस्त सोफे पर बैठे हुए सिगार पी रहे थे। पपिहरा यों ही चली आई उनसे मिलने।

सेठ जी नशे में थे। पपिहरा को सामने देखकर उनका नशा दूना हो गया। हृदय वासना-सागर में हिलोरें लेने लगा। वे सब कुछ भूलकर पपिहरा को एकटक देखने लगे।

पपिहरा को अपनी आपत्ति का ज्ञान तब हुआ, जब सेठजी ने उसकी कलाई पकड़ कर उसे अपने पास खींच लिया और उसे सोफे पर बिठाते हुए बोले—"पपिहरा रानी! बहुत तड़प चुका हूँ। आज प्यासे की प्यास बुझानी ही पड़ेगी तुम्हें। चाहे जो कुछ हो, मैं आज निराश नहीं हो सकूँगा...."

पपिहरा समझ गई कि सेठजी ने आज शैतान की सवारी कर ली है। वह भयभीत हो उठी। उसने उठकर जाना चाहा, तो सेठजी ने उसके शरीर को अपने हाथों में बाँध लिया।

"छोड़ दो मुझे..." पपिहरा क्रोध से बोली—"तीस हजार और एक हार देकर तुम मुझे खरीदना चाहते हो ?...."

"मेरी क्या हस्ती जो तुम्हें खरीद सकूँ....मगर आज तुम्हें मैं यों ही जाने नहीं दूँगा....समझीं तुम !"

"मैं समझ गई"—पपिहरा ने कहा—"मगर यह याद रखो कि अगर तुमने मेरे साथ जरा भी ज्यादती की, तो कैलाश भैया से कह दूँगी...."

"मुझे डराओ मत ! सेठ रतनलाल के पास इतनी दौलत है, जिससे गवर्नर तक खरीदे जा सकते हैं....पाप को मैं पुण्य में बदल दे सकता हूँ..."

सेठ रतनलाल ने पपिहरा को इस तरह आबद्ध कर लिया कि पपिहरा चीख पड़ी। अनायास ही उसके मुख से निकल पड़ा—"रसूल भैया ! मुझे बचाओ !...."

"छोड़ दो उसे !..." किसी ने कड़ककर कहा।

सेठजी ने देखा, उनका लम्बा-तगड़ा दरबान तनकर पहाड़-सा खड़ा था उनके सामने।

"क्या है ?....तू क्यों यहाँ आया ?...." सेठजी नशे में बड़बड़ाये।

"उसे छोड़ दो...."

"तू भाग यहाँ से..."

दरबान ने सेठजी का गला पकड़ कर उन्हें उठा लिया और तेजी से फर्श पर ढकेल दिया। सेठजी के सर से खून बहने लगा। वे 'चोर-डाकू' चिल्लाते हुए बाहर भागे।

दरबान ने पपिहरा की ओर देखा। धीरे से पुकारा—"पपिहा !...."

"भैया !....रसूल भैया !...." दौड़कर पपिहरा रसूल के गले से जा लिपटी।

"शैतान कहीं की"—रसूल उसके सर पर हाथ फेरता हुआ बोला—"मुझे छोड़कर भाग आई थी। देख तो, तेरी खोज में मैं कैसा बदल गया हूँ ? तू मुझे पहचान भी न सकी .."

"मुझे कुछ शक जरूर हुआ था रसूल भैया !....मगर तुम यहाँ कैसे आ पहुँचे ?...."

"अपना बदला लेने..."

"कैसा बदला ?...."

तभी सेठ रतनलाल कई पुलिसों के साथ आ धमके। थाना बगल में ही था।

"यही है...." सेठ रतनलाल चिल्लाये रसूल की ओर इशारा करके।

और रसूल के हाथों में हथकड़ियाँ पड़ गई।

पपिहरा चीख कर बोली—"इन्हें मत पकड़ो...यह मेरे भाई हैं..."

"तू चुप रह पपिहा !"—रसूल गम्भीर स्वर में बोला—"जो कुछ हो रहा है, होने दे। खुदा की मर्जी !...."

सेठ रतनलाल फिर चिल्लाये—"यह चोर है...डाकू है... नीच है....पापी है। इसे ले जाकर कैदखाने में डाल दो...."

रसूल भयानक गति से हँसकर बोला—"सेठ रतनलाल ! चोर तो तुम हो, जिसने अपने नौकर की बीवी की अस्मत चुराई थी आज से अठारह साल पहले....डाकू तो तुम हो, जो अकेले कमरे में औरतों की लाज लूटते हो....नीच और पापी तो तुम हो जो अपनी बेटी को भी अपनी गोद का खिलौना बनाना चाहते हो....मुझे भूल गये....मैं वही रसूल हूँ, जिसके दिल में आज भी बदले की आग जल रही है...और यह पपिहरा कौन है, जानते हो ?....यह है तुम्हारी बेटी ! शर्म करो इन्सानी शैतान !...."

"इसे ले जाओ....ले जाओ..." हाँफते हुए बोले सेठ रतनलाल।

"तुम मुझे जलील कहते हो"—रसूल कहता गया—"तुम्हारी बेटी को अपनी बहन समझ कर मैंने पाला-पोसा....और तुम उसी पर कहर ढाने की हिमाकत-करने लगे....हममें से कौन ज्यादा जलील है, इसे खुदा जानता है...."

पुलिसवाले रसूल को घसीट ले चले। पपिहरा हत बुद्धि-सी खड़ी देखती रही। रसूल को जाते देखकर वह रोना चाहती थी और अपने खोये हुए पिता को पाकर हँसना। और रोने-हँसने के आवेग ने विचित्र मौन की सृष्टि कर दी थी।

आजतक वह यही समझती आ रही थी कि संसार में उसका कोई नहीं है। अगर कोई है भी, तो वह उससे कभी मिल नहीं सकती।

परन्तु आज एक विचित्र स्थिति में अपने पिता को पहचान कर वह अत्यन्त विस्मित हो पड़ी थी।

और उसके पिता, सेठ रतनलाल सिर नीचा किये हुए सोफे पर बैठे हाँफ रहे थे। वे सर ऊपर उठाकर नहीं देख सकते थे। पपिहरा को वे अब कौन-सा मुख दिखलायेंगे।

"प्रतिमा !...." धीरे-से सर उठाकर पुकारा सेठजी ने।

और पपिहरा इधर-उधर सर घुमाकर देखने लगी कि सेठजी किसे पुकार रहे हैं।

"मैं तुम्हें ही पुकार रहा हूँ !....तुम्हारा नाम प्रतिमा ही रखा था मैंने...इधर आओ, मेरे पास !...." थोड़ी देर पहले का सेठजी का वासनासिक्त स्वर अब वात्सल्य से भर उठा था। यह सत्य था कि वे अपनी खोई हुई बेटी के लिये हमेशा तड़पा करते थे।

पपिहरा उनके पास चली आई। सेठजी की आँखों से आँसू

बह चले। बोले—"मुझे क्षमा कर दो प्रतिमा बेटी !....मैं कितना नीच हूँ..."

और थोड़ी ही देर बाद युगों के बिछुड़े हुए पिता-पुत्री आपस में हिल-मिल गये।

उसी समय सेठजी ने अपनी कार निकाली और पपिहरा के साथ कैलाश के बँगले पर आये।

"आइए सेठजी !"—कैलाश बोला—"पपिहरा के आने में देर होती देख कर मैं चिन्तित हो रहा था। आज शूटिंग भी तो नहीं थी...."

सेठजी ने लपक कर कैलाश को गले से लगा लिया। बोले—"अब यह पपिहरा आपके पास कभी नहीं आयेगी कैलाशजी !...."

कैलाश आश्चर्य में भरकर बोला—"क्यों ?...."

"मैं आपका बड़ा कृतज्ञ हूँ कि आपके कारण मेरी खोई हुई बेटी मुझे मिल गई...."

"कैसी खोई हुई बेटी सेठजी ?"

"यह पपिहरा मेरी अपनी बेटी है...लड़कपन में ही रसूल इसे उठा ले गया था...." सेठजी ने कहा।

"हम तो इसे रसूल की सगी बहन ही समझते थे..." कैलाश बोला—"क्या किस्सा है सुनाइये तो..."

सेठजी ने आरम्भ से अन्त तक सारी कहानी सुना दी परन्तु अपना पाप छिपा ले गये। उस पाप की कहानी सेठजी और रसूल जानते थे। सो रसूल तो जेल में था—और सेठजी ने कुछ इस तरह से रसूल के विश्वासघात का कहानी कही, कि पपिहरा और कैलाश दोनों का हृदय रसूल के प्रति अगम घृणा से भर उठा। इतने सालों से रसूल के साथ रहनेवाली पपिहरा भी उसका स्नेह भूल गयी।

"चलिये अच्छा ही हुआ"—कैलाश बोला—"मुझे इस बात

की बड़ी खुशी है कि आपकी बेटी मिल गई और रसूल जैसा शैतान जेल की हवा खाने पर मजबूर हुआ। अब पपिहरा को अपने साथ आप रख सकते हैं। मुझे एतराज ही क्या हो सकता है ? मैं तो गाँव के नाते इसका भाई हूँ, मगर आपकी तो यह बेटी ही है।"

पपिहरा सेठ रतनलाल के यहाँ आकर रहने लगी। वह प्रसन्न थी और सेठ रतनलाल भी कम खुश नहीं थे। सेठजी ने रसूल की लगातार बुराई करके पपिहरा के दिल में रसूल के प्रति और भी घृणा उत्पन्न कर दी थी।

पपिहरा को कोई दुख नहीं था। वह सेठ की बेटी थी। अभाव में लड़कपन गुजारनेवाली पपिहरा धन का सम्पर्क पाकर सब कुछ भूल गई थी। फिर भी, रात में जब वह मुलायम बिस्तर पर सोती, तो न जाने किस कोने से रसूल के लिये हृदय में करुण चीत्कार भर उठती थी। वह अपनी विचार-धाराओं को दूसरी तरफ मोड़ना चाहती थी, परन्तु हर बार रसूल की भयावनी आकृति आँखों में आँसू भरकर उसके सामने आ खड़ी होती और उसके कान 'पपिहा-पपिहा' की करुण पुकार से गूंज उठते थे। अनजाने में ही पपिहरा सूखती जा रही थी।

रसूल पर मुकदमा चला। जुर्म संगीन था। उसने सेठ रतनलाल की बेटी का हरण किया था और सेठ के कमरे में घुस कर उन्हें चोट पहुँचाई थी। उसे चार साल सख्त कैद की सजा मिली।

उस दिन शाम को जब सेठ रतनलाल ने हँसते-हँसते पपिहरा से रसूल की सजा का वर्णन किया, तो सुनते-सुनते पपिहरा एका-एक बेहोश होकर गिर पड़ी। कैलाश भी उस समय वहाँ उपस्थित था। पपिहरा को बेहोश देखकर वह भी घबड़ा उठा।

बोला—"मैं इसके मुँह पर पानी के छींटे देता हूँ। आप जल्द किसी डाक्टर को फोन कीजिये....'

"मैं अभी डाक्टर दीपक को बुलाता हूँ—" दौड़ते हुए सेठजी दूसरे कमरे में चले गये।

थोड़ी ही देर बाद वे लौटे। कैलाश पपिहरा के मुँह पर छींटे दे रहा था। सेठजी को आया देख कर बोला—"ये डाक्टर दीपक कौन हैं सेठजी?"

"ये एक नये डाक्टर हैं। अनुभव अच्छा है-" कहकर सेठजी पपिहरा को ध्यानपूर्वक देखने लगे।

थोड़ी देर बाद बाहर से कार का हार्न सुनाई पड़ा। सेठजी ने कहा—"डाक्टर साहब आ गये...."

कैलाश और सेठजी, दोनों बाहर आये। डाक्टर की सूरत देखते ही कैलाश चिल्ला उठा-"अरे दीपक तुम? बड़ा परेशान था तुम्हारे लिये..."

दोनों दोस्त गले मिले। दीपक बोला—"तुम यहाँ कैसे कैलाश?"

"चलो, पहले अपना रोगी तो देख लो....बाकी बातें बाद में होंगी...."

कमरे में घुसते ही डाक्टर दीपक की दृष्टि बेहोश पपिहरा पर पड़ी। वह इस तरह से चौंक पड़ा जैसे कलेजे में कोई आलपीन चुभ गई हो। उसने मार्मिक दृष्टि से कैलाश की ओर देखा। बोला—"यह सब क्या है कैलाश?"

कैलाश ने धीरे से उसके कान में कहा—"अभी चुप रहो तुम! सेठजी पपिहरा के पिता हैं। तुम जल्द इसकी बेहोशी दूर करो!"

दीपक ने पपिहरा की आँखों की परीक्षा ली और उसे एक इंजेक्शन दिया। पाँच मिनट के बाद पपिहरा की आँखें इस तरह से खुल गयीं, जैसे सबेरे की हवा खाकर गुलाब की पंखड़ियाँ करवट ले रही हों!

कुछ देर तक तो पपिहरा की आँखें खुलकर निश्चल रहीं, परन्तु

जब उसने अपनी पुतलियाँ घुमाकर उपस्थित लोगों की ओर देखा और उसकी नजर दीपक पर पड़ी, तो आवेश एवं आश्चर्य में भर कर उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं। सोचने लगी, शायद वह सपना देख रही है। परन्तु जब उसने पुनः आँखें खोलीं, तो उसे निश्चय हो गया कि वह स्वप्न-संसार के बाहर वास्तविक जगत् में है।

"चलिये सेठजी !" कैलाश ने कहा—"आपसे एक बात कहनी है। जरा बाहर तो आइये...."

सेठजी और कैलाश बाहर चले गये।

दीपक और पपिहरा वहाँ अकेले रह गये। दोनों के नेत्र एक दूसरे की ओर एकटक देख रहे थे। पुतलियाँ निश्चल थीं, परन्तु हृदय तीव्र वेग से धड़क रहे थे।

"पपिहरा !"—धीरे से पुकारा दीपक ने और उसके बगल में जा बैठा। उसका हाथ अपनी हथेलियों में लेकर सहलाने लगा।

पपिहरा चुप रही। नेह लगा कर तोड़ देनेवालों से कोई क्या बोले, क्या कहे, क्या शिकायत करे ?

"पपिहरा ?...." दीपक ने पुकारा—"बोलो कुछ...."

"तुम्हें मेरा नाम अब तक याद है ?" पपिहरा बड़े कष्ट से बोली—"मैं तो समझती थी कि जिस तरह तुम मुझे भूल गये, उसी तरह तुम्हें मेरा नाम भी याद न होगा..."

"मैं विवश था पपिहरा !" दीपक बोला—"तुम्हारे गाँव से लौट कर मैं यहाँ बम्बई पढ़ने चला आया....और अब तो यहीं डाक्टरी करने लगा हूँ...."

"इतने दिन का जमाना गुजरा, कभी याद भी आई थी हमारी ? कभी सोचा भी था कि मैंने तुम्हारे लिये कितनी तकलीफें सहीं हैं ? बेवफाई तो मरदों की सबसे बड़ी सिफत है...तुम भी बेवफा निकले, लो इसमें ताज्जुब क्या ?...."

"मगर अब हम-तुम कभी अलग नहीं होंगे पपिहरा !..."

"ख्वाब की बातें मत करो दीपक बाबू ! अब मैं खुदमुख्तार नहीं रही ! मेरे पिताजी जो वाजिब समझेंगे करेंगे..."

"मैं उनकी आज्ञा ले आया हूँ—" कैलाश ने अन्दर आते हुए कहा—"मैंने उन्हें सभी बातें स्पष्ट बता दी हैं। वे तुम दोनों के विवाह के लिये सहमत हैं...."

सुनकर पपिहरा का चेहरा रक्ताभ हो उठा।

पागल हो गया था मैं, परन्तु दुःख के आवेग से पागल हुए व्यक्ति का मस्तिष्क कुछ दिनों या कुछ सालों में अपने आप ही ठीक हो जाता है। मेरा दिमाग भी अब ठीक है। पिछले जीवन की याद अब एक कहानी के रूप में ही जीवित है। एक जमाना गुजर गया—पूरे पन्द्रह साल।

और आज मैं भिखारी हूँ। पिछले १० सालों से भीख ही माँग रहा हूँ। पेट भिक्षा के बल घिसट रहा है। शरीर पर पन्द्रह सालों की गर्मी-बरसात ने बुढ़ापा ला दिया है। अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ।

पिछले पन्द्रह सालों से मुझे यह कुछ भी पता नहीं कि साहित्यिक-जगत में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं और मेरी पहले की रचनायें अब कैसी बिक रही हैं ? पपिहरा भी प्रारम्भ किया था, तो न जाने किस कुसायत में कि एक युग बीतने पर भी पूरा न न हो सका।

और 'पपिहरा' को पूर्ण करके ही क्या करूँगा ? भिखारी का वेश लेकर किस प्रकाशक के पास जाऊँगा ? कौन मुझे पहचानेगा ?

यह भिखारी का जीवन ही मुझे प्रिय है। अब प्रकाशकों का दरवाजा खटखटाने की तमन्ना नहीं रही। फिर भी 'पपिहरा' को तो पूर्ण करना ही होगा। कलम घिसने का नशा मुझे अब तक है और शायद जिन्दा रहने तक वह नशा मेरा साथ नहीं छोड़ेगा।

पता नहीं हिन्दी-संसार ने मेरी रचनाओं का आदर करना सीखा या नहीं? आदर भी करते हों तो क्या? उन्हे क्या मालूम कि साहित्य का एक श्रष्टा अभाव में पिस-पिसकर भीख माँगता मर रहा है।

मेरा जीवन अब सीमित है। सबेरे से इसी सड़क के किनारे बैठा रहता हूँ! सामने मैला-सा कपड़ा भीख की याचना करता हुआ बिछा रहता है। जिसे दया लगती है मुझ बुड्ढे पर, वह पैसे दो पैसे फेंक ही जाता है। जिन्हें दया नहीं लगती, वे अन्धे बनकर आगे बढ़ जाते हैं। कुछ तो मुख से पान की सिठी निकाल फेंकते हैं मेरे ऊपर। दुनिया बावली है। किसे दोष दूँ मैं?

खन्न!

सामने बिछी हुई मैले रूमाल पर किसी दाता ने दो इकन्नियाँ एक साथ ही फेंक दी हैं।

सर उठाकर देखता हूँ, तो एक बाबू!...वही बाबू, जो रोज इसी समय इसी रास्ते से गुजरते हैं और मुझे दो आने फेंक जाते हैं। इधर मैं महीनों से देख रहा हूँ—वे प्रतिदिन मेरी सहायता करते हैं। हृदय में इन बाबू के प्रति बड़ी ही श्रद्धा, बड़ी ही भक्ति उत्पन्न हो गई है।

रोज की तरह मैं कह देता हूँ—"युग-युग जिओ मालिक!...."

बाबू चले गये हैं, तो मैं उनके विषय में सोचने लगता हूँ—कितने दयालु हैं वे! मुझ पर कितनी बड़ी कृपा है उनकी! ईश्वर भला करे उनका।

इन बाबू की अवस्था अभी केवल पचीस के लगभग है। हाथ-

पैर से तन्दुरुस्त, चेहरा आकर्षक, वेश-भूषा आधुनिक—पता नहीं वे मुझ भिखारी बूढ़े पर क्यों इतनी ममता रखते हैं ?

दूसरे दिन बाबू बोल रहे हैं—"भिखारी !...."

"मालिक !..."

"तुम कब से भीख माँग रहे हो ?"

"यह तो मेरा पेशा ही है हजूर !...."

"मैं यह पूछ रहा हूँ कि तुम कितने सालों से भीख माँग रहे हो..."

"दस-बारह साल से सरकार !...."

सुनकर बाबू कुछ सोचने लगे हैं। फिर पूछा है उन्होंने—"और उसके पहले क्या करते थे ?"

"रिक्शा चलाता था—" मैं कहता हूँ—"जवानी घोड़ा बनकर काट दी, अब बुढ़ापा भीख माँगकर बिता रहा हूँ मालिक !...."

"इस जीवन से क्या तुम प्रसन्न हो ? तुम्हें सन्तोष है ?—"

"जीवन तो कुत्ते भी बिता ले जाते हैं सरकार !...और सन्तोष तो जब बड़े-बड़े राजाओं और धनिकों को नहीं है, तो एक भिखारी को क्या होगा ?..."

"तुम्हारी बातें बड़ी ही मार्मिक होती हैं भिखारी !...."

"ऐसा तो बहुतों ने कहा है मालिक ! मगर दिल का घाव कौन देखे ?..."

"मुझे तुमसे बड़ी ही सहानुभूति हो गई है...."

"आप कितने दयालु हैं !...वर्ना मुझ जैसे रास्ते के कङ्कड़ को कौन देखे ?...."

"मैं सच कहता हूँ भिखारी ! पहले-पहल जब तुम्हें देखा, तभी मेरा हृदय तुम्हारे प्रति न जाने क्यों सदय हो उठा। लेखक लोग युवक और युवतियों का एक ही दृष्टि में प्रेम हो जाना दिखाते

हैं, मगर मेरा प्रेम तो तुम जैसे बूढ़े से हो गया है....” कहकर बाबू मुस्कराने लगते हैं।

लेखक शब्द सुनकर मैं चौंक पड़ता हूँ। सम्हलकर कहता हूँ—“लेखक झूठे होते हैं मालिक !”

“तुम मेरे घर चलो भिखारी ! मैं तुम्हें हमेशा अपने पास रखना चाहता हूँ। जब तक तुम्हें देख नहीं लेता, हृदय में बेचैनी-सी छाई रहती है....”

“अपने हृदय की दवा करो बाबू ! शादी न हुई हो, तो एक दुलहिन कर लो...मुझ जैसा बूढ़ा तुम्हें क्या दे सकेगा ....”

मगर बाबू कबके माननेवाले हैं। उनके हठ के आगे मैं परास्त हो गया हूँ। बड़े आदमियों के सामने भिखारियों की हस्ती ही क्या ?

सो मैं उनके महल में आ गया हूँ। महल ही कहिये इसे—इतना बड़ा आसमान-चुम्बी मकान, साज-सजावट, नौकर-चाकर—ये बाबू नहीं, राजा हैं...और मेरा नाम भी तो राजाबाबू ही है। हमसे और इन बाबू से अवश्य ही किसी जन्म का सम्बन्ध है, तभी तो हम-दोनों इतने शीघ्र निकट आ गये हैं।

बाबू ने अपने नौकरों की फौज को मुझे नहनाले, खिलाने और आराम से रखने का हुकम दे दिया है। अकेला आदमी और इतने नौकर !

भिखारी से अब वास्तविक राजा बना हूँ मैं, इस बुढ़ापे में। कहा भी है कि बारह बरस के बाद कूड़े का ढेर भी महल बन जाता है।

खाना खाने के बाद रात में दो घंटे तक बाबू हमसे बातें किया करते हैं। दिन भर तो अपने काम में ही डूबे रहते हैं। हम लोगों में भिन्न-भिन्न विषयों पर बातें होती हैं। बाबू का

स्वभाव बड़ा निर्मल है, मुँह देखनेवाले शीशे की तरह। वे मुझे अब 'आप' कहते हैं।

आज भी हम लोग कोच पर बैठे हैं। बातें चल रही हैं।

"आपने अब तक मुझे अपने विषय में कुछ न बताया"—बाबूजी कह रहे हैं।

"मेरे विषय में जानकर क्या करोगे? मैं आफत का मारा एक इनसान हूँ। पेड़ से टूटा हुआ एक पत्ता हूँ—जब कभी हवा के झोंकों से उड़कर आस्मान पर पहुँचा, तो अपने को राजा समझ लिया; और जब गिर कर जमीन पर आया, तो भिखारी बन गया। मेरे जीवन में कितने ही भीषण तूफान आ-आकर चले गये हैं बेटा!"

"आपके मुख से बेटा की पुकार सुनकर कानों मे शहद घुल उठती है....पता नहीं, आपने क्या जादू कर दिया है मुझ पर... उफ! कितना सुख मिलता है मुझे...दुख तो इतना ही है कि मैं किसी को पिता कहकर नहीं पुकार सकता...."

"क्यों?..." मुझे आश्चर्य होता है।

"मैं लड़कपन में ही अपने घर से विलग हो गया। मारा-मारा फिर रहा था, तो इस कोठी के सेठ साहब ने मुझे पाला-पोसा, लिखाया-पढ़ाया। सेठजी को कोई सन्तान नहीं थी, और उनकी मृत्यु के बाद मैं ही उनके धन का मालिक बना। भिखारी का बेटा ईश्वर की अनुकम्पा से राजा बन गया।....अपने पिता की मुझे याद है और यह भी याद है कि पिता की अकर्मण्यता से माँ और हमलोग कई-कई दिनों तक भूखे रह जाते थे। एक दिन माँ से एक मामूली-सी बात पर रूठ कर पिताजी कहीं चले गये। हम लोग भूखों मरने लगे, तो मैं घर से भाग आया। यहाँ सेठजी ने मुझे सम्हाला। दो साल बाद जब मैंने सेठजी से अपने माता-पिता और भाइयों की बात कही, तो वे मुझे अपने

साथ लेकर मेरे गाँव तक गये। वहाँ पता चला कि माताजी परलोक सिधार गईं। टूटा-फूटा घर भी कूड़े का ढेर बन गया था।.... तब से यहीं हूँ। पिता के लिये मेरे हृदय में प्रेम भी है और घृणा भी। उन्हीं के कारण माताजी की दुर्दशा हुई। मैं भी यहाँ न आ जाता, तो न जाने कहाँ भटकता होता? पुरुष अगर स्त्री-बच्चों का पालन न कर सके, तो उसे डूब मरना चाहिये। मेरे पिता ने भी शायद यही किया होगा!..."

"......."मैं चुपचाप सुन रहा हूँ। कलेजा धकड़ रहा है। आँखें बोलनेवाले युवक के मुख पर केन्द्रित हैं।

"एक दिन आपने कहा था न, कि लेखक झूठे होते हैं....मैं कहता हूँ कि केवल झूठे ही नहीं, विश्वासघाती, हत्यारे तथा आलसी—सभी कुछ होते हैं ये....मेरा पिता भी लेखक था.... आज भी उसकी पुस्तकें लोग चाव से पढ़ते हैं....परन्तु हमारी तो हत्या ही कर डाली उसने...."

मेरा सर घूमने लगा है। आसमान के तारे आँखों के आगे नाचने लगे हैं। हृदय आँधी की गति से ऊपर-नीचे हो रहा है। सहमी हुई आवाज में पूछता हूँ—"तुम्हारा नाम?...."

"त्रिलोक है मेरा नाम...यह क्या? आपको क्या हो गया है....कानों में उँगली क्यों डाल लिया आपने?..."

मैंने अपने को सम्हाल लिया है। कैसे बताऊँ त्रिलोक को कि जिस पिता के प्रति उसके हृदय में इतनी घृणा है, वह उसके सामने ही उसकी बातें सुनता हुआ बैठा है।

"कुछ नहीं त्रिलोक बाबू!"—कहता हूँ मैं—"आपकी कहानी सुनकर ही मुझे इतना दुःख हुआ है। मैं ज़रा बाहर टहल कर अपना चित्त शान्त कर लूँ..."

मैं बाहर आकर टहलने लगा हूँ। चाँदनी से सनी हुई ठंडी हवा बदन में लगी है, तो तबियत कुछ ठिकाने हुई है।

सोच रहा हूँ—क्या अपने बेटे को अपना परिचय दे दूँ, तो जीवन भर तक आनन्द से रह सकता हूँ। बादशाह बनकर जिन्दगी गुजार सकता हूँ।

मगर यह त्रिलोक तो अपने पिता से घृणा करता है। एक पिता के लिये यह कितनी लज्जा की बात है कि स्वयं उसका बेटा उसी के मुख पर उसे अपशब्द कहे? सचमुच मुझे डूब मरना चाहिये।

नहीं, मैं उसे अपना भेद नहीं बताऊँगा। उसके साथ रहूँगा और उसका मुख देख कर ही सन्तोष करूँगा। जब कभी वह अपने पिता को बुरा-भला कहेगा, तो घर के किसी कोने में छिप कर आँसू बहा लूँगा।

उफ! कितना अभागा हूँ मैं! युगों के बाद अपने बेटे को पाकर भी उसे कलेजे से नहीं लगा सकता, उसे यह नहीं बता सकता कि मैं ही उसका पिता हूँ।

कैसी विडम्बना है!

सुख के दिन आये भी, तो दामन में हजार-हजार बिच्छुओं के डंक छिपा कर।

रसूल आजकल जेल में है। अभी थोड़े ही दिन हुए हैं उसे यहाँ आये। खुले मैदान में दहाड़नेवाला शेर जेल के अन्दर बकरी बनकर नहीं रह सकता, अतः लगभग प्रतिदिन ही उसे वार्डर-जेलर आदि के डण्डे खाने पड़ते हैं। चार दिन तक उसे बेड़ी पहना कर कालकोठरी में भी रखा गया। रसूल जेल-जीवन से ऊब उठा है।

दिन तो किसी तरह चक्की चलाते-चलाते बीत जाता। रात में जब वह मिट्टी के चबूतरे पर काला कम्बल बिछा कर सोता, तो थके हुए अंग टूटने लगते और नींद हराम हो जाती। जब नींद न आती, तो मस्तिष्क के घोड़े तीव्र गति से दौड़ पड़ते। जाने कहाँ-कहाँ की बातें वह सोचने लगता।

पपिहरा की याद आती, तो क्षण भर के लिये उसे प्रसन्नता होती कि वह अपने पिता के पास पहुँच गई है। आनन्द से रहती होगी। दुख तो किसी बात का न होगा।

वह मासूम बच्ची, जिसे बसीदा बूढ़ी के हाथों वह सौंप आया था, कैसी होगी? अब तो साफ बोल लेती होगी। बसीदा उसे अच्छी तरह से रखती होगी। दूज का चन्द्रमा धीरे-धीरे तीज-चौथ पार कर रहा होगा।

तभी रसूल के हृदय में एक हूक सी, एक ज्वाला सी, उठ खड़ी होती। उसका एक-एक रग चीत्कार से भर उठता। जाने कैसी आशंका से वह विह्वल हो उठता। शायद चाँदनी बीमार हो, शायद मर गई हो।

उफ़! वह कैसी बातें सोचने लगता है। वह अपना माथा ठोंकने लगता, परन्तु दुख का आवेग कम न होता। धीरे-धीरे उसे यह निश्चय होने लगा कि चाँदनी पर अवश्य ही कोई संकट आ पड़ा है!

अब वह भागने की सोचने लगा।

परन्तु कैदियों के किले से निकल भागना आसान नहीं था। रसूल हर तरफ से अपने को बन्दी और असहाय पाता था। अब अपनी विवशता पर धीरे-धीरे उसका हृदय क्षुब्ध होने लगा था।

और एक रात!

जब कि सारे कैदी थकावट की नींद में मस्त थे, रसूल धीरे से उठा और खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया। वार्डर

दरवाजे पर बैठा हुआ ऊँघ रहा था। जेल के बाहर किसी स्थान पर कुत्ते भौंक रहे थे।

रसूल ने खिड़की में लगी हुई लोहे की सलाखों का निरीक्षण किया। फिर एकाएक उसने जमीन पर पैर की ठेस लगा कर हाथों से सलाखें पकड़ ली और भरपूर जोर मारा। दैत्य की ताकत के आगे लोहा परास्त हो गया।

चार सलाखें निकलते ही रसूल बाहर!

अब केवल जेल की दीवारें लाँघनी बाकी थी। तभी ऊँघते हुए वार्डर को कुछ खटका हुआ। वह बन्दूक लिये उठ खड़ा हुआ। रसूल चहारदीवारी की ओर दौड़ा। वह जानता था कि खतरा सर पर है और यदि वह भाग न सका, तो उसकी सजा बढ़ जायगी और जेलर आदि तो शायद उसे अधमरा ही कर दें।

रसूल में इस समय पाशविक शक्ति आ गई थी। वह उछला और एक ही छलाँग में उसने ऊँची चहारदीवारी की मुँडेर पकड़ ली। अब वह हाथों की शक्ति से अपने शरीर को मुँडेर पर लाने का प्रयत्न करने लगा।

तभी धाँय!

वार्डर की गोली रसूल के कन्धे में आ घुसी। उसका शरीर लड़खड़ाया, परन्तु मुख से चीख नहीं निकली। वह मुँडेर पर पहुँच चुका था। धड़ाम से उस पार कूद पड़ा।

भागने लगा वह। उसने सुना, जेल में खतरे का घंटा टनटना रहा था। उसने दौड़ना जारी रखा। बायीं हथेली से उसने कन्धे का घाव दबा लिया, ताकि खून जमीन पर न गिरे।

पैरों के नीचे से मीलों की दूरी भागती रही। कई मील जाकर पीड़ा से रसल जमीन पर गिर पड़ा। अपने को घसीट कर वह एक पेड़ के नीचे ले गया और सुस्ताने लगा। मुँह से दर्द की कराह निकलने लगी।

रक्त बहता जा रहा था। रसूल ने अपनी कमीज उतारकर फाड़ डाली और काँपते हाथों से घाव पर पट्टी बाँध ली। रात का समय था। रसूल किसको अपना घाव दिखाये और दिखाने से पकड़े जाने का भय भी तो था।

रसूल फिर से जेल की दीवारों में बँधना नहीं चाहता था—तब तक, जबतक कि वह गाँव जाकर चाँदनी को देख न ले।

वह वहीं पेड़ के नीचे रात भर पड़ा रहा। सबेरे की हलकी आभा में जब आकाश के तारे टिमटिमा कर बुझने लगे, तो वह उठा और फिर चलने लगा। पैर शिथिल थे, बदन काँप रहा था, कंधे का घाव मुँह के रास्ते कभी-कभी बोल उठता था।

शीघ्र ही रसूल किसी गाँव में पहुँच गया। उसकी पोशाक देखकर गाँववाले क्या समझते कि फरार कैदी है! एक दयालु ने उसे धोती और कमीज दे दी, जिसे पहन कर रसूल ने कैदियों के कपड़ों से छुट्टी पाई।

पैदल चल-चलकर वह एक स्टेशन पर पहुँचा और वहाँ से रेलगाड़ी की यात्रा प्रारम्भ हुई। रेलगाड़ी में भी वह पीड़ा से बेचैन रहा। शरीर ज्वर से तप्त था। प्यास ने गले में काँटे लगा दिये थे। रसूल का हृदय कह रहा था कि अब वह जिन्दा नहीं रह सकता। मगर अभी मरेगा नहीं वह। चाँदनी को देखकर तभी उसका शरीर निष्प्राण होगा। वह सबकी नजर बचाकर डिब्बे में छिपा हुआ था, क्योंकि बिना टिकट के पकड़े जाने का भय था।

एक पहर रात गये वह बसीदा के दरवाजे पर जा खड़ा हुआ। पुकारा—"दादी!...."

दरवाजा खुला। बुढ़िया का शरीर दिखाई पड़ा। आवाज आई—"अरे! तू है रसूल!....आ बेटा! भला लौटा तो..."

दोनों अन्दर आये। दीवट के प्रकाश में रसूल का मुख देखकर बसीदा चीख उठी—"या खुदा! यह रसूल ही है या कोई

मुरदा !....तू तो एकदम से बदल गया है रे ! चेहरे पर दाढ़ी क्यों उगा ली ? हाय अल्लाह ! छोकरे का बरगद-सा बदन सूख कर ताड़ बन गया...कहाँ था तू इतने दिनों तक ?...."

रसूल कराहता हुआ जमीन पर ही बैठ गया। बोला—"जरा दम लेने दो दादी ?..."

"पपिहरा मिली तुझे ?...."

"हाँ !..."

"कहाँ है ?"

"बम्बई में अपने बाप के पास..."

"शुक्र है खुदा का !"—बुढ़िया ने रसूल का बदन छुआ, तो काँप कर बोली—"तुझे तो बुखार है रे हरामी ! कहाँ से मर कर आ रहा है, बोलता क्यों नहीं ?"

"जेल से भाग कर आ रहा हूँ दादी !..."

"अरे बाप रे ! चोरी करके जेल जाना भी सीख गया तू ?... क्यों रे हरामी के पिल्ले ! कमाकर पेट नहीं भर सकता था ?..."

"मैंने चोरी नहीं की दादी !....पपिहरा की अस्मत बचाने के लिये मुझे जेल जाना पड़ा....कन्धे में गोली...." रसूल जमीन पर लेट गया।

"गोली !...." बुढ़िया आसमान पर से गिरती हुई बोली—"या खुदा ! तुझे क्या हो गया है रसूल !"

"बड़ा दर्द है दादी !...थोड़ा-सा पानी पिलाना..."

"खायेगा भी कुछ ?..."

"नहीं दादी !...."

बसीदा उठकर एक गिलास में पानी ले आई और रसूल के हाथों में पकड़ा दिया। रसूल गिलास होठों तक ले गया। एका-एक उसे चाँदनी की याद हो आई। उसने बिना पिये हुए ही गिलास जमीन पर रख दिया।

"पीता क्यों नहीं ?...." बुढ़िया ने पूछा।

"दादी ! चाँदनी कहाँ है ?"

बसीदा का मुँह उतर गया। धीरे से बोली वह—"तेरी चाँदनी तो बदल कर शाम का अँधेरा बन गई है रे रसूल !.... मैं क्या करती ? तेरा कहीं पता भी नहीं था। खलील भी बम्बई से अभी लौटा है। वह भी इसके लिये बड़ा परेशान है।...."

"दादी !"....तेज स्वर में बोला रसूल और झटके के साथ उठकर बैठ गया—"कहाँ है चाँदनी ? मुझे दिखाओ...चाँदनी को...मैं शाम का अँधेरा नहीं देखना चाहता...."

बसीदा ने खटोले पर लेटी हुई चाँदनी की चादर उठा दी। रसूल एकटक देखने लगा उसे। हृष्ट-पुष्ट शरीर सूख कर हड्डी का ढाँचा रह गया था। बदन का गोरा रंग अँधेरी रात का कालापन ले बैठा था। रसूल के पैर काँपने लगे। हाथ की मुट्ठियाँ बँध गईं।

"दादी !"—हताश स्वर में बोला वह—"तुम्हें गुलाब का फूल सौंप कर गया था और तुम मुझे सूखी हुई पंखड़ी लौटा रही हो...दादी ! तुमने मेरे साथ दग़ा की।"

'अरे छोकरे ! मेरी जान ले ले तू, मगर मुझे तोहमत मत लगा...खुद तो जाने किस दोजख में मर रहा था—अकेली मैं क्या करती ?...."

"इसकी यह हालत कब से है ?"—रसूल ने चाँदनी को धीरे से उठाकर गोद में लेते हुए कहा।

"जब से तू गया, तभी से....न ठीक से दूध पीती है, न हँसती है, न रोती है...."

"अभी यह जिन्दा है दादी !...मैं इसे लेकर शहर जा रहा हूँ....अभी, इसी वक्त..." रसूल दरवाजे की ओर लड़खड़ाता हुआ बढ़ा।

"तबियत ठीक नहीं है—कहाँ जा रहा है तू?"—बसीदा ने पुकारा।

"मेरी तबियत दुरुस्त है दादी!....चाँदनी के मौत से लड़ूँगा मैं....खुदा का पैर पकड़ कर कहूँगा कि इस मासूम बच्ची ने तेरा क्या बिगाड़ा है?...."

"पानी तो पीता जा...."

"प्यास अब तो बुझ गई है दादी!....चाँदनी को देखकर भी प्यास न बुझे तो ताज्जुब है...."

रसूल दरवाजे के बाहर आ गया। पगडंडी पर बढ़ चला शहर की ओर। रास्ते में खलील मिल गया। रसूल को पहचान न सका वह। आगे बढ़ने लगा।

तो रसूल ने पुकारा—"खलील!..."

खलील रुका। गौर से देखकर बोला—"खुदा कसम! बेहद ताज्जुब है कि रसूल भैया की आवाज इस हड्डी के ढाँचे से निकल रही है...."

"मैं ही हूँ खलील!....कहाँ जा रहा है तू?"

"चाँदनी को देखने जा रहा था भैया! आजकल वह बीमार है न!....तुम क्या अभी चले ही आ रहे हो?"—

"आया तो था बहुत देर का, अब तो मैं लौट रहा हूँ खलील!..."

"कहाँ?..."

"शहर जाऊँगा...."

"और चाँदनी?...."

"वह मेरी गोद में है...."

"मर गई क्या?...क्या यह मर गई रसूल भैया?...."

"नहीं।....मरने से पहले यह मेरी ताकत देखना चाहती

है"—बोला रसल—"जा रहा हूँ। देखें, डाक्टर कुछ कर सकते हैं या नहीं ?...."

"तुम यह क्या हो गये रसूल भाई ?"

"चुप रह बेइमान कहीं का !....मेरी जान लेना चाहता था तू.... और आज मेरी लाश देखकर अनजान बन रहा है...चला जा अपने रास्ते !"

"एक बात कहूँ भैया ?..."

"बोल !..."

"शायद तुम यह नहीं जानते कि चाँदनी कौन है ?"

"मैं जानता हूँ"....रसूल ने गम्भीर स्वर में कहा।

"कौन है यह ?"—

"पपिहरा की बेटी !...तेरी ही करतूत थी न यह ? सोचा, बेटी रसूल के पास रहेगी, तो हँस खेल कर बड़ी हो जायगी.... पपिहरा ने ही तुझे ऐसी राय दी होगी ?...."

"या खुदा ! तुम तो सब जानते हो रसूल भैया !...."

"जलील कहीं का !....भला पपिहरा की बेटी को मैं न पहिचानूँगा ?"

खलील चुपचाप खड़ा रहा। रसूल आगे बढ़ गया।

शहर पहुँच कर रसूल ने वैद्य-डाक्टरों का दरवाजा खटखटाया। सब ने यही कहा—"इसे लेकर बम्बई या कलकत्ता जाओ। यहाँ इसका इलाज नहीं हो सकता।"

लाचार रसूल पुनः बिना टिकट रेल पर सवार हुआ। कई जगह टिकट-चेकरों के लात-घूँसे खाये, कई जगह रेलगाड़ी से उतारा गया।

मगर अन्त में वह बम्बई पहुँच ही गया। कंधे की पीड़ा एवं ज्वर से रसूल स्वयं अधमरा हो रहा था, परन्तु इस समय उसके

सामने केवल चाँदनी की रक्षा का प्रश्न था, जो उसकी गोद में लेटी हुई धीरे-धीरे साँस ले रही थी।

रसूल स्टेशन से बाहर आकर चौड़ी सड़क पर चलने लगा। पहला दवाखाना देखते ही वह उसमें घुस पड़ा। दवाखाने में बड़ी भीड़ थी। कैसे पहुँचे वह डाक्टर तक? किसी तरह वह कुछ और नजदीक पहुँचा तो रोगियों से घिरे हुए डाक्टर पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसका शरीर काँप उठा। वह उल्टे पाँव लौट चला। वह चाँदनी को मरते देख सकता है परन्तु अपने शत्रु डाक्टर दीपक को वह उसे छूने भी न देगा। दीपक के लिये उसके हृदय में अब भी अगम घृणा है। अगर दीपक गाँव में न आया होता, तो उसकी दुनिया कभी न उजड़ती।

सड़क पर आकर रसूल फिर बढ़ चला। दीपक को बम्बई में डाक्टरी करते देखकर उसे बहुत आश्चर्य हुआ था और क्रोध भी कम नहीं था।

रसूल अपने खाने-पीने की सुध भूल गया था। कंधे में लगी हुई गोली भीतर ही भीतर सड़न पैदा कर रही थी परन्तु रसूल विस्मृत था।

दूसरे दवाखाने में वह घुसा, तो डाक्टर साहब दूर से ही चिल्ला पड़े—"भागो यहाँ से....मुझे अवकाश नहीं....इसे दूसरे डाक्टर के पास ले जाओ...."

रसूल गिड़गिड़ा कर बोला—"सरकार! इस बच्ची की जिन्दगी जा रही है। मौत से लड़ने की ताकत मुझ गरीब में नहीं। मिहरबानी करके इसकी जान बचा दो। गुलाम बनकर रहूँगा तुम्हारा मालिक!"

"भाग जाओ...."

रसूल लौट पड़ा। दरवाजे तक पहुँचा तो पीछे से कम्पाउण्डर ने आकर उसके कंधे पर हाथ रख दिया, बोला—"दवा कराना

चाहो, तो हाथ में हजार-दो-हजार लेकर आओ। जानते हो, डाक्टर साहब की फीस पचास रुपया फी घण्टा है।"

रुपया !....

हजार-दो-हजार !...

दवाखाने से जब रसूल बाहर निकला तो उसके कानों में यही शब्द गूँज रहे थे।

तो उसे रुपयों का प्रबन्ध करना ही होगा। परन्तु कहाँ से ?.... और अगर रुपये न मिले तो ?....तो चाँदनी की मृत्यु !....नहीं ! रसूल अब भी हार नहीं मानेगा। वह चाँदनी की मौत से लड़ेगा। चोरी करेगा, डाका डालेगा और हाथ में हजार-दो-हजार लेकर डाक्टर के पास अवश्य जायेगा।

चोरी ! डाका !....

रसूल का काला मुख और भी भयानक हो उठा। वह बढ़ चला सेठ रतनलाल की कोठी की ओर।

सेठजी की कोठी बिजली के प्रकाश में हँस रही थी। शहनाई बज रही थी। बड़ी चहल-पहल थी। पपिहरा और दीपक की शादी थी आज।

सेठ रतनलाल बहुत व्यस्त थे। उनकी एकमात्र सन्तान प्रतिमा का विवाह था। नौकरों में भी प्रसन्नता छाई हुई थी। चारों ओर अजीब मस्ती थी, विचित्र उत्साह था।

दीपक और पपिहरा गठबन्धन में जकड़ दिये गये थे। भाँवरें पड़ रही थीं। पंडित मन्त्रोच्चारण कर रहे थे। कैलाश हँसता हुआ पास ही खड़ा था।

सेठ रतनलाल कुछ रुपये निकालने के लिये कमरे में आये। सेफ खोलकर कुछ नोट निकाले और उसे खुला ही छोड़कर कैलाश को रुपये देने चले गये।

वापस लौटे तो वे सन्न रह गये। उनके सेफ के पास एक

दैत्य खड़ा था, काला-कलूटा। उसके एक हाथ में कपड़े की एक लम्बी-सी गठरी थी और दूसरे हाथ से वह सेफ में से नोटों की गड्डी निकाल रहा था।

नोटों की गड्डी लेकर जब वह दैत्य घूमा तो उसकी दृष्टि सेठ रतनलाल पर पड़ी। सेठ जी चिल्ला उठे—"रसूल !....चोर ! डाकू !...."

रसूल करुण स्वर में बोला—"चिल्लाओ मत सेठजी ! हजार-दो-हजार तो तुम्हारे हाथ की मैल है। मुझे इन रुपयों से इस बच्ची की जान बचानी है"—रसूल ने उस लम्बी गठरी की ओर इशारा किया—"यह मर रही है। डाक्टरों की दवा बगैर दौलत के कारगर नहीं होती....मुझे माफ करो सेठजी !...."

"दगाबाज ! तू जेल से कैसे भाग आया....मैं अभी बुलाता हूँ...पुलिस !...."

तभी सेठजी के कई नौकर दौड़ते हुए आये।

चिल्लाये सेठजी—"यह पुराना डाकू है। इसे पीटो ! मारो !...."

नौकरों की फौज रसूल पर टूट पड़ी। रसूल बैठ गया। चाँदनी के शरीर को अपनी गोद में ढँक लिया, ताकि उसके नाजुक शरीर पर प्रहार न हो सके।

नौकरों की लाठियाँ रसूल की पीठ पर नगाड़ा बजाती रहीं। सेठजी पुलिस को बुलाने चले गये।

एकाएक रसूल में न जाने कहाँ का बल आ गया। वह तेजी से उठ खड़ा हुआ। नौकरों को धक्का देकर दूर गिरा दिया और भाग चला। नौकरों ने पीछा किया, मगर वह चक्कर देता हुआ निकल ही गया।

चाँदनी उसकी गोद में थी और रुपयों की गड्डी हाथ में।

भागा जा रहा था वह, न जाने किस बल से।

उसी दवाखाने में वह पुनः घुसा। कम्पाउण्डर ने कहा—"आ गये तुम! रुपये लाये?"

रसूल ने चुपचाप नोटों की गड्डी उसके हाथों पर रख दी।

डाक्टर ने चाँदनी की नब्ज देखी, स्टेथिस्कोप से परीक्षा ली, नाक के पास शीशा रक्खा, तब धीरे से कहा—"यह मर गई..."

"मर गई?...." रसूल के मुख से केवल इतना निकला। आँसू की दो मोटी धारायें दोनों आँखों से निकल कर गालों पर बह चलीं।

उसने झुक कर धीरे से लाश उठाई और कंधे पर रखकर बाहर आया। चलने लगा लड़खड़ाते पैरों से। इन्सान और मौत की लड़ाई में इंसान की हार और मौत की जीत हुई। चाँदनी नहीं मरी, जैसे रसूल मर गया।

वह बढ़ता रहा। एक-एक पग पर पैर जवाब दे रहे थे। शरीर असह्य ज्वर से तप्त था। कंधे का घाव मृत्यु की लकीर बनकर सनसना रहा था। सेठजी के नौकरों की 'पूजा' से बदन की हड्डी-हड्डी टूट गई थी। आज वह समझ रहा था कि मरने के पहले कितनी पीड़ा झेलता है इन्सान।

सेठ रतनलाल की कोठी आ गई। रसूल पुनः उसी में घुसा।

सेठजी ने उसे देखा तो चिल्ला पड़े—"पकड़ो! फरार कैदी!...."

रसूल सेठजी के सामने जा खड़ा हुआ—"अब मैं मागूँगा नहीं सेठजी! शौक से बुलाओ पुलिस को....मैं खड़ा हूँ...." रसूल ने चाँदनी की लाश जमीन पर रख दी।

"भैया!..." पपिहरा आकर खड़ी हो गई सामने। दीपक और कैलाश भी आये।

मौत की छाया रसूल के मुख पर करुण मुस्कुराहट बनकर नाच उठी। अत्यन्त क्षीण स्वर में बोला वह—"पपिहा!...."

"रसूल भैया !...."

"तू तो खुश है न !....अपने बाप का बदला तूने मुझसे ले लिया....शाबास ! बेटी हो तो ऐसी !....मुझे....मुझे मिटा दिया पपिहा तूने....तुझे क्या मालूम कि एक हैवान भी अगर किसी बच्ची को पालता है तो वह उससे मुहब्बत करता है....आखिरी वक्त में तुझे देख सका, यही मेरी....मेरी खुशनसीबी है...मेरी बच्ची ! जहाँ रहो, फूलो-फलो। चाँद की रोशनी और गुल की खुशबू तुम्हारे पास हो....या खुदा...."

फटे पहाड़ जैसा रसूल पपिहरा के आगे गिर पड़ा। उसके हाथ पपिहरा के पाँव पर पड़े। पपिहरा चीख कर रसूल से लिपट गई।

मगर रसूल कहाँ था ?

उसकी जिन्दगी थक कर सो रही थी इस समय, महानिद्रा में।

उसी समय पुलिस इन्सपेक्टर ने सिपाहियों के साथ प्रवेश किया !

"कहाँ है वह ?" पूछा उन्होंने।

"आपका कैदी तो भाग गया इन्सपेक्टर साहब !"—दीपक रुँधे गले से बोला—"अब आप उसे नहीं पकड़ सकते...."

इन्सपेक्टर ने चाँदनी की लाश खोली तो सभी चौंक पड़े।

"यह किसकी बच्ची है ?"—इन्सपेक्टर ने पूछा।

परन्तु कोई उत्तर नहीं दे सका।

पपिहरा एकटक उसे देख रही थी। जबान चुप थी मगर उसके दिल की एक-एक धड़कन कह रही थी कि पपिहरा से निराश होकर रसूल ने उसकी बच्ची से अपना हृदय बहलाना चाहा और जब वह भी उसे धोखा दे गई तो वह जिन्दा न रह सका।

इन्सान का दिल जब नहीं बहल पाता तो वह अपनी जान दे देता है। कितना मूर्ख है मानव !

घड़ी की तरफ नजर जाती है तो देखता हूँ कि दोनों सुइयाँ आपस में लिपट कर सिसक रही हैं। रात के बारह बजे यह क्षणिक मिलन उनके लिये कितना करुण है। अरे! मेरे मस्तक में इतनी पीड़ा क्यों होने लगी है? मैं अपने दोनों हाथों से मस्तक दबाने लगता हूँ। कुछ आराम मिलता है।

बूढ़ा शरीर, पिछले दो हफ्तों से बुखार एवं खाँसी में तप रहा है। शरीर शिथिल होते-होते एकदम निर्जीव-सा हो गया है। दस बजे रात से लिखना प्रारम्भ किया था और बारह बजे तक लिखता रहा हूँ। दो घंटे का यह अथक परिश्रम मेरे लिये बहुत अधिक है। दिन में इसलिये नहीं लिखता कि त्रिलोक देख ले कहीं, तो अपने पिता को पहचान जाय।

डाक्टर ने मुझे कोई भी परिश्रम करने से मना किया है। शाम को त्रिलोक ने देखा था—ज्वर १०४ डिग्री था। फिर भी लिखने का नशा जब चढ़ा तो 'पपिहरा' को पूर्ण करके ही उतरा।

यह उपन्यास, यह 'पपिहरा' मेरी युगों की साधना का परिणाम है। जवानी में इसे लिखना प्रारम्भ किया था और बुढ़ापे में आकर यह पूर्ण हुआ। कितना परिश्रम किया है मैंने इसके लिखने में, यह मैं ही जानता हूँ।

और आज इसे पूर्ण देखकर मैं बहुत प्रसन्न हूँ। किसे सुनाऊँ अपना हर्षोत्फुल्ल स्वर, किसे दिखाऊँ अपना खिलखिलाता हुआ हृदय, किसे बताऊँ कि आज मेरी साधना सफल हुई है।

मगर यह पीड़ा! यह ज्वर! यह तीव्रतम खाँसी!

उफ! कितना कष्ट है मुझे इस समय! चारपाई पर बैठे-बैठे मैं कराहने लगता हूँ।

तभी—"अरे, आप अभी तक जाग रहे हैं?" त्रिलोक का स्वर सुनाई पड़ता है।

कहता हूँ—"आओ बेटा !....अभी तक तो जाग ही रहा हूँ। बीमारी आती है, तो नींद कैसे आयेगी ? सोने की कोशिश की, तो जागृति बढ़ती गई...क्या करूँ ? बूढ़ा हो गया...."

"आप कराह रहे हैं, पीड़ा अधिक है क्या ?....लाइये, बुखार देखूँ...."

थर्मामीटर ने कहा है कि मुझे १०४।। डिग्री का ताप है। देखकर त्रिलोक चिन्तित हो उठा है। बेचारा युवक मेरे लिये कितना परेशान है।

कहता है—"आप लेट जाइये। मैं आपके सीने पर अमृतांजन मल दूँ। आपकी साँस कितने जोरों से चल रही है...."

मैं लेट जाता हूँ चुपचाप। त्रिलोक मेरे सीने पर दवा मल रहा है और मैं उसका सलोना मुख एकटक देख रहा हूँ। यह त्रिलोक अनजाने में ही अपने पिता से कितना प्रेम करने लगा है। मगर कैसे बताऊँ उसे कि मैं ही...मैं ही....

तब तक—"लाइये आपका बदन दबा दूँ" कहता है त्रिलोक।

"रहने दो बेटा ! बूढ़ा शरीर तो हमेशा ही दर्द करता रहेगा—तुम कबतक परेशान होगे ?...."

परन्तु त्रिलोक सुनता नहीं। मेरा हाथ पकड़कर दबाने लगा है वह। कितना आराम मिल रहा है मुझे। बेटे को कलेजे से नहीं लगा सकता, मगर उसे देख तो सकता हूँ, उसे छू तो सकता हूँ, उसकी सेवा तो पा सकता हूँ। यही मेरे लिये बहुत है।

एकाएक त्रिलोक चौंक पड़ा है। मेरी काँख के नीचे के काले निशान को वह बड़े ध्यान से देखने लगा है। मैं व्यग्र होकर अपना हाथ नीचे कर लेता हूँ।

"यह क्या है ?..."

"कुछ नहीं बेटा ! कुछ नहीं....तुम जाओ सो रहो"—कहता हूँ मैं।

तो वह मेरी छाती पर अपना सिर रख देता है। आँखों में आँसू भरभरा उठते हैं। कहता है—"बहुत दिनों तक छिपे रहे पिताजी !...नजरों के सामने रहते हुए भी पहचान से दूर रहे.... मुझे इतना बड़ा दण्ड आपने क्यों दिया ?....मैं आपकी काँख का यह निशान अच्छी तरह पहचानता हूँ...."

"बेटा !"—मेरे रुँधे गले से केवल एक शब्द निकला है और शिथिल हाथों ने बेटे के शरीर को अपनी बूढ़ी ठठरी से बाँध लिया है।

आधे घंटे बाद बहुत कहने-सुनने पर त्रिलोक सोने चला गया है। मैं भी सोने का उपक्रम करता हूँ परन्तु नींद ने तो मजदूरों की तरह हड़ताल करना सीख लिया है।

जागता हुआ चारपाई पर लेटा करवटें बदल रहा हूँ। ज्वर के ताप से मस्तिष्क ठिकाने नहीं है। सोचने लगा हूँ—आज त्रिलोक मुझे पहचान गया है। जिस पिता से वह इतनी घृणा करता था, उसी का आज वह भक्त बन गया है। यह कितनी लज्जा की बात है मेरे लिये, कि मेरा पुत्र मुझे नीच समझता है और मैं सांसारिक मोह में पड़कर उसके यहाँ पड़ा हूँ।

मेरा मस्तिष्क उड़ने लगा है।

नहीं ! त्रिलोक के पास अब मैं नहीं रह सकता। त्रिलोक की जबान ने एक दिन कहा था कि लेखक चोर-डाकू-पाखंडी-विश्वासघाती होते हैं...और यदि पुरुष अपने स्त्री-बच्चों का पालन नहीं कर सकता तो उसे डूब मरना चाहिये....

मुझे भी डूब मरना चाहिये ! त्रिलोक के मुख से ऐसे अपमानजनक शब्द सुनकर भी मैं यहाँ क्यों पड़ा रह गया ? कितना नीच हूँ मैं ! मुझे अपनी प्रतिष्ठा का, अपने पद का कुछ भी ध्यान नहीं। पुत्र अपने पिता को गाली दे और पिता मौन रहे ?...मुझे डूब मरना चाहिये।

बेटा अगर स्वप्न में भी पिता का अनादर करे तो वह क्षम्य नहीं हो सकता।

फिर, त्रिलोक ने तो मेरे सामने ही मेरा अपमान किया है। कैसे भूल जाऊँ उस अपमान को? मैं त्रिलोक को क्षमा नहीं नहीं कर सकता।

तेजी से मैं चारपाई पर उठकर बैठ जाता हूँ। कलम उठाकर कागज पर लिखने लगता हूँ—

बेटा!

मैं तुम्हारा पिता हूँ और तुम मेरे बेटे। परन्तु हम दोनों में से किसी ने भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया। मैं तुम्हें पाल-पोस नहीं सका और तुम पिता का आदर करना नहीं सीख सके। बाप की अकर्मण्यता एवं सन्तति के पालन की अक्षमता हेय है तो पुत्र के मुख से पिता के लिये निकले हुए अपशब्द भी कम घृणित नहीं!

तुम्हें पाकर भी खो रहा हूँ आज। मेरे दुःख का अन्दाजा पिता का हृदय ही लगा सकता है। मैं जा रहा हूँ यहाँ से। बेटा पिता का निरादर करे, छोटे अपने बड़ों का अपमान करें, इससे व्यवहारिक शृङ्खला नष्ट होती है। मैंने कभी अपने को झुकने नहीं दिया। फिर तुम्हारे सामने ही इस स्वाभिमानी लेखक का सर कैसे झुक सकता है?

मैं लेखक हूँ न और लेखक तो नीच-विश्वासघाती होते हैं। तो मेरा तुम्हारे पास काम ही क्या है? नीच-विश्वासघाती को पिता कहकर कैसे पुकारोगे?

तुमने इतने दिनों तक मुझे आराम से रक्खा, इसका बदला बगैर चुकाये मैं यहाँ से जाना नहीं चाहता। मेरे पास धन नहीं, केवल 'पपिहरा' की हस्तलिपि है। उसे इस तकिये के नीचे से निकाल लेना और किसी प्रकाशक के हाथ बेचकर अपने रुपये ले लेना। कोशिश करोगे तो यह उपन्यास अच्छे दामों में बिक जायगा।

इसके अतिरिक्त मुझ भिखारी के पास तुम्हें देने लायक कुछ भी नहीं...

पत्र मोड़कर तकिये ऊपर रख देता हूँ, और उठ खड़ा होता हूँ। लड़खड़ाते पैर लिये बाहर आ गया हूँ। निकल पड़ा हूँ मौत की मंजिल तक पहुँचने के लिये।

× × × ×

आज चौथा दिन है मुझे इस स्टेशन पर पड़े हुए। सोचा था किसी गाड़ी पर चढ़कर कहीं दूर चला जाऊँगा, परन्तु यहाँ पहुँचते ही ज्वर और खाँसी ने जमीन पर ला पटका कि फिर उठ ही न सका। अब भी मुझे ज्वर है और खाँसी भी—शरीर तो एकदम पारा बन गया है कि जिधर से उठाइये लुढ़ककर जमीन पर !

मौत की घड़ियाँ गिन रहा हूँ पड़े-पड़े। न दाना, न पानी !

एक गाड़ी आकर प्लैटफार्म पर खड़ी हो गई है। एक साहब उतरकर बाहर की ओर जाने लगे हैं। मैं उन्हें पहचान गया हूँ। पुकारता हूँ—"श्यामसुन्दरजी !..."

हमारे शहर के प्रकाशक श्यामसुन्दरजी घूमते हैं, परन्तु मुझे पहचान नहीं पाते।

नजदीक आते हैं तो मुझ भिखारी को देखकर चीख पड़ते हैं—"अरे ! राजाबाबू तुम !"

"मैं ही हूँ श्यामसुन्दरजी !....कहिये क्या हाल है ?...."

"राजाबाबू !...." वे मेरे पास बैठते हुए बोले हैं—"यह तुम्हारी क्या दशा है ?....जिसकी रचनायें आज साहित्य के गर्व की वस्तु हैं, जिसकी लेखनी आज लोगों के लिये पूजनीय बन गई है, जिसे देखने और सम्मानित करने के लिये आज हिन्दी-संसार व्यग्र है—उसकी यह दशा ! वह इस दूर देश के कोने में इस अवस्था में सिसक रहा है ?...."

"क्या कहते हैं श्यामसुन्दरजी !...."

"राजा बाबू ! आज तुम्हारा साहित्य अमर हो गया है। तुम्हारे मस्तिष्क की कद्र लोगों ने बहुत देर से करना सीखा। आज साहित्य में तुम्हारी रचनाओं का सबसे उच्च स्थान है। सब तुम्हें मरा हुआ समझ लिये हैं और तुम्हारी पुस्तकों में तुम्हारे नाम के आगे स्वर्गीय छपने लगा है।"

"ठीक ही है ! इन्सान की कद्र उसकी मृत्यु के बाद ही होती है श्यामसुन्दरजी ! मैं भी तो मर गया हूँ....अब वह पहले का राजा कहाँ है ?...."

"राजा बाबू ! तुम मेरे साथ चलो....लोग तुम्हें देखकर बहुत हर्षित होंगे, तुम्हारी उपासना करेंगे, तुम्हारी एक-एक रचना पर प्रकाशक हजारों रुपयों की वर्षा कर देंगे..."

"मुझे कुछ नहीं चाहिये"—बोलता हूँ मैं—"लेखक रुपयों का भूखा नहीं, अपनी साधना की सफलता का भूखा है। मुझे हर्ष है कि लोगों ने मेरी तपस्या का मूल्य समझा....मगर अब तो बहुत देर हो चुकी है श्यामसुन्दरजी ! मृत्यु-पथ का यात्री लोगों के पास तक घिसट कर कैसे जायगा ?...."

"तुम्हें मेरे साथ चलना होगा राजा बाबू !...."

मुझे उत्तेजना आ जाती है इस प्रकाशक की मनोवृत्ति पर। एक दिन मुझे दरवाजे का कुत्ता समझनेवाला यह प्रकाशक आज मुझे लोगों के सामने उपस्थित करके अपने को महान् बताना चाहता है और यह दिखाना चाहता है कि वह गड़ा हुआ मुर्दा उखाड़ने में कितना सिद्धहस्त है।

"तुम जाओ श्यामसुन्दरजी ! मुझे प्रशंसा एवं धन का लालच मत दो...मुझे धन की लालसा होती तो आज भिखारी नहीं होता...हिन्दी-संसार मेरे लिये तड़प रहा है तो तड़पे। मेरा सन्देश तुम पहुँचा देना और कह देना कि सरस्वती की उपासना

करनेवाला किसी के समक्ष झुकता नहीं....जाओ, तुम चले जाओ...."

बेचारे श्यामसुन्दरजी भीगी बिल्ली बन गये हैं मेरी तड़प सुनकर। धीरे से अपना सूटकेस उठाकर चल दिये हैं। मेरी साँस ऊपर-नीचे होने लगी है। खाँसी का वेग बढ़ चला है।

आज लोग मुझे देखने के लिये, मेरी पूजा करने के लिये परेशान हैं। प्रकाशक मुझे हजारों रुपये देकर मेरी कला खरीदना चाहते हैं। पाठक मेरे गले में पुष्प मालायें डालकर चिल्लाना चाहते हैं—"राजा बाबू की जय !...."

परन्तु ये लोग उस समय कहाँ थे, जब मैं भूख की ज्वाला में तड़प रहा था, जब अभाव से लिपटी हुई नारी ने अपने बदन का माँस काटकर अपने बच्चे को खिलाना चाहा था, जब मैं घोड़ा बनकर रिक्शा चलाया करता था, जब मैं पागल होकर लोगों के जूते खाता फिरता था—

कहाँ थे उस समय ये निशाचर ? कहाँ थे ये प्रकाशक, ये पाठक, साहित्य के ये ठीकेदार ? जब मैं तूफान के झोंके में पड़ा हुआ भटक रहा था, तो ये लोग कहाँ थे ?

उफ ! क्या मैं पागल हुआ जा रहा हूँ ? क्या मैं फिर पागल हो जाऊँगा ?

मैं उठता हूँ। शिथिल पैर रेलवे लाइन के किनारे-किनारे चलने लगे हैं। बड़ी दूर आकर एक सुनसान स्थान में मैं रुक गया हूँ। यहाँ कोई नहीं है। केवल रेलवे लाइन की दो समानान्तर रेखायें दूर तक चली गई हैं।

शाम का धुँधलका है। चारों ओर सन्नाटा भी।

हृदय में तूफान ! मस्तिष्क में पागलपन !

मैं क्या करने जा रहा हूँ ? मैं क्या करने आया हूँ यहाँ ?

घड़घड़-घड़घड़ !

दूर से रेलगाड़ी के पहिये की आवाज !

हिन्दी-संसार मेरा आदर करना चाहता है, प्रकाशक मुझे हजारों की रकम देने को तैयार हैं—पाठक मेरी पूजा करने को उत्सुक हैं।

और मैं ?

यहाँ निर्जन स्थान में खड़ा हूँ। रेलगाड़ी आ रही है। सिगनल डाउन है। इञ्जन के आगे की आँख तेज रोशनी फेंक रही है।

घड़घड़ ! घड़घड़ !

लोग मेरी पूजा करेंगे ?...नहीं, वे मेरी पूजा नहीं कर सकते ! मेरी लाश की पूजा करें वे, मेरे शरीर के टुकड़ों पर फूल चढ़ायें वे।

घड़घड़-घड़घड़ !

रेलगाड़ी पास आ गई है।

नहीं ! मैं अपना जीवित शरीर हिन्दी-संसार के इन कुत्तों के के आगे नहीं पड़ने दूँगा। वे मेरी लाश के टुकड़े खायें, नोचें, अट्टहास करें।

मैं दोनों लाइनों पर लेट जाता हूँ धीरे से।

आओ काली माता ! मेरे शरीर के टुकड़े करो....ॐ नम-श्चण्डिकाय...।

बस

कुछ

उत्कृष्ट प्रकाशन

पुखराज

केशर

●

लोकप्रिय कथाकार श्री 'केशर' का हिन्दी कथा-साहित्य में सर्वथा नवीन प्रयोग। बनारसी जीवन-भूमि पर लिखा गया 'पुखराज' हिन्दी का संभवतः अकेला उपन्यास है। मूर्धन्य विद्वानों द्वारा प्रशंसित।

पुखराज में बनारस की विश्वविख्यात अलमस्ती की जीती-जागती तस्वीर, जो आपको चमत्कृत किए बिना न रहेगी। सौ साल पूर्व का वह बनारस—जब बात-बात पर गँड़ासे चल जाते थे। अपनी आन पर हँसते-हँसते सिर की बाजी लगाने वाले बनारसियों के हृदय में सरलता और तरलता का वह संगम था, जो अन्यत्र कहीं दुर्लभ ही है।

शौर्य और रोमांस के हिंडोले पर झूलती हुई 'पुखराज' की रसमयी कथा में डूब कर आप रोमांच से भर उठेंगे।

नयी साज-सज्जा के साथ दूसरा संस्करण प्रस्तुत हो गया है। आज ही मँगा लें। तिरंगा आवरण, सजिल्द मूल्य २॥)।

'अज्ञेय'

जन्म १९११; प्रकाशित रचनाएँ : 'भग्नदूत' (कविता) १९३३, 'विपथगा' (कहानियाँ) १९३७, 'शेखर : एक जीवनी' (उपन्यास) प्रथम भाग १९४१, द्वितीय भाग १९४४, 'चिन्ता' (काव्य) १९४२, 'परम्परा' (कहानियाँ) १९४४, 'कोठरी की बात' (कहानियाँ) १९४५, 'त्रिशंकु' (निबन्ध-संग्रह) १९४५, 'इत्यलम्' (कविता) १९४६, 'शरणार्थी' (कहानी-कविताएँ) १९४८, 'हरी घास पर क्षण भर' (कविता) १९४९, 'जय-दोल' (कहानियाँ) १९५१। अंग्रेजी में : 'प्रिज़न डेज़ एंड अदर पोएम्स' (कविताएँ) १९४६।

सम्पादित ग्रन्थ : 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (निबन्ध-संग्रह) १९४३, 'तार सप्तक' (कविता-संग्रह) १९४३, 'दूसरा सप्तक' (कविता-संग्रह) १९५१। संयुक्त-रूप से 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' १९४९। अंग्रेज़ी में : 'इंडिया लाइब्रेरी' के अन्तर्गत 'श्रीकान्त' (शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का अनुवाद) १९४४, 'द रेज़िग्नेशन' (जैनेन्द्रकुमार के त्यागपत्र का अनुवाद) १९४६।